रमेश थानवी

1945, पहली अगस्त को उत्तर-पश्चिमी राजस्थान के कस्बे फलौदी जिला जोधपुर में जन्म। शिक्षा कई गांवों में और फिर जयपुर और जोधपुर में।

जोधपुर विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में एम.ए. करने के बाद दिल्ली में भारतीय ज्ञानपीठ में पुस्तक संपादन एवं पुरस्कार चयन प्रक्रिया का कार्य। फिर प्रतिपक्ष साप्ताहिक में संपादन सहयोग। आपातकाल के कारण 1976में जयपुर वापसी। 1976में ही राजस्थान प्रौढ़ शिक्षा समिति के तत्वावधान में प्रौढ़ शिक्षा के राज्य संदर्भ केन्द्र की स्थापना। यह देश का पहला संदर्भ केन्द्र था। बीस वर्ष तक इस केन्द्र के संस्थापक निदेशक का कार्य। इस बीच ही कई पूर्वी एवं पश्चिमी देशों में शिक्षा कार्यक्रमों का अध्ययन। प्रौढ़ शिक्षा का पहला पाठ पढ़ने 1976में वियतनाम की यात्रा।

1980 में इंग्लैण्ड के साउथैम्प्टन विश्वविद्यालय के प्रौढ़ शिक्षा विभाग में सहयोगी फैलो के रूप में अध्यापक एवं प्रशिक्षण।

राजस्थान में महिला विकास, शिक्षाकर्मी, लोक जुम्बिश जैसे कई शिक्षा कार्यक्रमों में संकल्पना स्तर से ही सक्रिय भागीदारी।

प्रौढ़ शिक्षा में प्रस्तुत प्रकाशन, शिक्षा-सामग्री सृजन एवं प्रशिक्षण के क्षेत्र में कई नवाचार।

पुस्तकें :

घड़ियों की हड़ताल (किशोर उपन्यास), बदलाव का अधिकार (लम्बी कविता) 9 भारतीय भाषाओं में इसके अनुवाद नेशनल बुक ट्रस्ट से प्रकाशित, दौड़ा-दौड़ा मन का घोड़ा (बालगीत), गुन गुन गुन (बालगीत), नीली झील (कमलेश्वर की कहानी का लोकोपयोगी रूपान्तर, नेशनल बुक ट्रस्ट से प्रकाशित), भोर भई (बालगीत), सोने का किला : सत्यजित राय-बांग्ला से अनुवाद।

सम्प्रति :

वरिष्ठ सलाहकार, राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति, जयपुर एवं समकालीन शिक्षा चिन्तन की मासिक पत्रिका अनौपचारिका का सम्पादन।

सूर्य प्रकाशन मन्दिर, बीकानेर
स्थापित १९६४
www.suryaprakashanmandir.com

शिक्षा का सच • रमेश थानवी

शिक्षा का सच

रमेश थानवी

क्रम

❑ पुरोवाक् 7

1. शिक्षा में आशा 9
2. अध्यापक की योग्यता! 12
3. पंक्ति कभी पूर्णता नहीं देती 15
4. एक शाला मां-बापों के लिए 19
5. एक थे शंकर 22
6. शिक्षा मंत्रियों की शिक्षा कौन करे? 25
7. कहिये, कैसी रही? 28
8. आखा जीवन शिक्षा के नाम 31
9. वन्दे वाणी विनायकौ 34
10. अनौपचारिका के सैंतीस वर्ष 37

11. हमारे स्वाध्याय के तीन क्षेत्र 41
12. बसंत के रंग शिक्षा के संग 44
13. एक सर्जक का साथ 47
14. आंगन से आकाश की ओर 50
15. उस सभा में न कोई वृद्धजन था 53
16. अण्णा को आदाब 56
17. कबीर का करघा गांधी का चरखा 59
18. शिक्षा का सच! 62
19. आदरणीय नयना बहन... 65
20. शिक्षा का विज्ञान! 71
21. भारती जय, विजय करे! 76
22. प्रिय रवि 78
23. सीखना हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है 82
24. शिक्षा में हिंसा 86
25. नयी तालीम को आमंत्रण 91
26. शिक्षा अब सारथी बनेगी 96
27. सम्मेलन से लौटकर 99
28. आओ, घर घर में जाग लगा दें 103
29. नयी सरकार और शिक्षा के नये सरोकार 107
30. विज्ञान का सच और सच का विज्ञान 111
31. कक्षा में कहां है विनोद! 114
32. सुन्नो शन्नो 117
33. मातृ मुखेन शिक्षणम् 121
34. सुवास की तलाश में! 124
35. जीवन जहां मृत्यु को जीतने का मार्ग है 127
36. कैसी हो किताबें? 130
37. कैसी होगी साक्षर औरत? 132
38. बबल भाई के बहाने...! 135

पुरोवाक्

'**शिक्षा का सच**' एक चौंकाने वाला शीर्षक है। पढ़ने को आकर्षित करने वाला शीर्षक। शिक्षा पर मेरी पहली किताब का शीर्षक भी ऐसा ही आकर्षिक करने वाला था। उस किताब का नाम था '**शिक्षा की परीक्षा**'। अब इस पुस्तक का नाम सुनकर पाठक इसको पढ़ते हुए मेरे साथ शिक्षा का सच जानने के प्रयास में सम्मिलित हो सकते हैं। मैं यह दावा नहीं करता हूं कि मैंने शिक्षा के सच को जान लिया है अथवा शिक्षा का सच मुझे मिल गया है। मगर मैं शिक्षा के वर्तमान परिदृश्य में झांक कर, उस को देख कर उसे समझने की कोशिश अवश्य करता रहा हूं।

शिक्षा के वर्तमान परिदृश्य में झांकने का अवसर मुझे मेरी पत्रिका **अनौपचारिका** ने दिया। **अनौपचारिका** राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति, जयपुर का प्रकाशन है। मैं इस पत्रिका का संस्थापक सम्पादक रहा हूं। इस पत्रिका का शुभारंभ मैंने 37 वर्ष पहले राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति के मुखपत्र के रूप में किया था। पाठक **अनौपचारिका** के बारे में थोड़ा विस्तार से इस पुस्तक के पृष्ठ सं. 37 पर पढ़ सकते हैं। यह सुखद संयोग है। इन 37 वर्षों में इस पत्रिका ने कई रूप धारण किये और चौला बदलते हुए यह पत्रिका अंततः समकालीन शिक्षा चिंतन की पत्रिका बन गई। इसके इस रूप का सम्पादन भी मैंने पिछले 13 वर्षों तक किया और उन 13 वर्षों में से आखिर के 4 वर्षों के सम्पादकीय इस पुस्तक में संकलित हैं।

पाठक जानते हैं कि मासिक पत्रिका के सम्पादकीय तात्कालिक घटनाओं अथवा आयोजनों से जुड़े होते हैं। तो एक तरह से यह पुस्तक 2009 से 2012 तक के शैक्षिक परिदृश्य का एक आंखों देखा दस्तावेज है। पूरा दस्तावेज भी नहीं। दरअसल इन 4 वर्षों में भारत का शैक्षिक परिदृश्य जैसे-जैसे चौले बदलता रहा और जिन-जिन बीहड़ रास्तों से हिचकोले खाता हुआ गुज़रता रहा उन तमान रूपों पर प्रतिमाह मेरा भी चिंतन चलता रहा। यह पुस्तक समकालीन शिक्षा के इस परिदृश्य पर एक गवेषणात्मक एवं विश्लेषणात्मक चिंतन का दस्तावेज है।

शिक्षा की परीक्षा में भी अनौपचारिका में लिखे गये कुछ सम्पादकीय अथवा अन्यत्र प्रकाशित हुए कुछ लेखों एवं टिप्पणियों का संकलन था लेकिन इस पुस्तक में तो विशुद्ध रूप से माह-दर-माह लिखे गए सम्पादकीय टिप्पणियों को ही क्रमशः संकलित किया गया है। मैं इन सम्पादकीय लेखों को

सिलसिलेवार संकलित करूं—ऐसी इच्छा भाई नंद चतुर्वेदी की भी थी और ऐसी इच्छा यहां जयपुर में रह रहे सगे बड़े भाई सरीखे आत्मीय मि. भाई घनश्याम दास पालीवाल की भी थी। अपने देहावसान से ठीक तीन दिन पहले फिर इस इच्छा को व्यक्त किया था। उधर बहुत दूर बैठे बैंगलौर में रहने वाले भाई साहब श्री नारायण दत्तजी का भी यह आत्मीय आग्रह बना रहा कि मैं जो भी सम्पादकीय लेख लिखता हूं उनको पुस्तकाकार संकलित करके प्रकाशित करूं। अजब दुर्भाग्य की बात है कि आज न नन्द बाबू हैं, न पालीवाल साहब और न नारायण दत्तजी। मैं उन तीनों वरिष्ठ मित्रों के प्रति श्रद्धावनत हूं।

यह सम्पादकीय लेख शिक्षा के सच को पाने का अथवा जान लेने का प्रयास मात्र है। यह लेख शिक्षा की अन्तरवस्तु में अवगाहन करने का एक प्रयास भी है। शिक्षा और समाज के परस्पर रिश्तों का अन्वेषण एवं विश्लेषण करने का प्रयत्न भी है। पाठक जब इन्हें पढ़ेंगे तो देखेंगे कि मैंने सैकड़ों शिक्षाविदों, शिक्षा चिंतकों, मनीषियों एवं ऋषियों का इन लेखों में उल्लेख किया है। वे तमाम लोग मेरे चिंतन का आलम्बन रहे हैं और मैं उन सब के प्रति भी श्रद्धावनत हूं।

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति के सभी सहयोगियों एवं पदाधिकारियों के प्रति भी मैं अपना आभार व्यक्त करता हूं कि वे सब लोग इन तमाम वर्षों में सहयात्री बने रहे हैं।

विशेष उल्लेख मैं भाई दिलीप शर्मा और श्रीमती प्रेम गुप्ता का करना चाहूंगा, जिन्होंने इन तमाम लेखों को संकलित कर और इन्हें पुस्तकाकार करने का न केवल श्रम किया बल्कि बार-बार मुझे प्रेरित करके इस संकलन को संभव बना देने में मेरा साथ दिया।

अब यह पुस्तक सुधी पाठकों के हाथों में है। इसका पुस्तक होना तभी सार्थक होगा जब पाठक पढ़ेंगे और मेरी शिक्षा-दृष्टि से भारतीय शैक्षिक परिदृश्य को देखते हुए अपनी कोई राय बनायेंगे और अगली चिंतन यात्रा में मुझे अपना सहयात्री बना लेंगे। अच्छा मुझे तब लगेगा जब एक-एक पाठक इस पुस्तक को पढ़कर अपनी राय से मुझे अवगत करायेगा। इसी ग़रज़ से मैं अपना फोन नम्बर नीचे दे रहा हूं।

5 सितम्बर, 2016
शिक्षक दिवस

रमेश थानवी
40/97, स्वर्ण पथ, मानसरोवर
जयपुर-302020
मो. : 9460380232

शिक्षा में आशा

शिक्षा में **आशा और उम्मीद** का बड़ा महत्त्व है। यदि हम आशावान न बने रहें तो निराशा हमको बड़ी आसानी से घेर सकती है। निराशा जड़ता को जन्म देती है। प्रमाद को पनपाती है—और हमें हताशा का शिकार बनाती है। जरूरी यह है कि हम **आशा और उम्मीद** का पोषण करें। उसे सदा बलवती बनाये रखें और उसके फलवती बन जाने की दिशा में सदा प्रयत्नशील रहें।

दरअसल आशा का आधार ही शिक्षा है। शिक्षा जड़ता को तोड़ती है। निराशा से निजात दिलाती है और मन में नया विश्वास जगाकर हमको अगले पल के प्रति आश्वस्त करती हुई नये द्वार खोल देती है। जब भी नया द्वार खुलता है थोड़ी-सी ताजी हवा, झोंके के साथ, हमें नये प्राण दे जाती है। इसके साथ ही एक ऐसा उजास प्रकट होता है जिसे देखकर हम आंखें मूंद लेते हैं और जिसने यह उजास भेजा है उसके प्रति नत-मस्तक हो जाते हैं। हम प्रार्थना करते हैं कि शिक्षा हमारे लिए ऐसे द्वार नित खोलती रहे और हम सभी सिर्फ आलोक की दुनिया में विचरण करते रहें, अंधेरा कभी पास ही न फटके।

अंधेरे की भी जिद बड़ी विचित्र होती है। कभी वह किसी कोने में जा बैठता है, तो कभी हमारे मन में प्रवेश कर अंतर्तम को कलुषित करने की चेष्टा करता है। अंधियारा केवल वह नहीं होता है जो बंद कमरों में पाया जाता है बल्कि वह भी होता है जो शिक्षा की अनुपस्थिति में हमारे मन-मस्तिष्क को घेर लेता है। मोह, माया और अहंकार से घिरा हमारा मन-मस्तिष्क निरन्तर अंधेरों की रचना करता चलता है और एक समय ऐसा भी आता है जब हम रोशनी के रास्ते भूल जाते हैं। हमारी प्रार्थना है कि प्रभु हमारे जीवन में ऐसा क्षण न आने दे जब हम रोशनी का रास्ता भूल जायें।

रोशनी की एक छोटी-से-छोटी किरण हमारी आशा को नया आधार दे सकती है। मन में नया विश्वास जगा सकती है। कठिन से कठिन समय में

हमको निराशा से दूर रख सकती है। हताशा से बचा सकती है और तब हम अपने लिए, नये से नया संसार रचते हुए, नयी से नयी मंजिल पा सकते हैं। नये और मनचाहे मुकाम तक पहुंच सकते हैं।

अपने लिए आशा और विश्वास रचने वाले लोग दूसरों को भी निराश नहीं होने देते। औरों को भी आलोक की दुनिया में अपने साथ लिये चलते हैं।

हमारा परम्परागत समाज भी इस तथ्य को ठीक से समझता था। यही वजह थी कि हमारी **लोक-संस्कृति में आसमाता** का एक रूप रचा गया था। उसी रूप की बाकायदा **पूजा-उपासना** होती थी। उस उपासना में **आसमाता** के व्रत की एक **कथा** का सृजन हुआ था और अधिसंख्य घरों में वर्ष के किसी एक या दो विशेष दिनों में **आसमाता** का व्रत रखा जाता था।

लोक साहित्य में आसमाता की जो व्रत-कथा कही जाती रही, उसकी विवेचना बहुत जरूरी लगती है। उस कथा में एक साधारण आदमी उज्जैन का राजा बन जाता है। राजा बनने की लालसा रखने वाले लोग उसके खिलाफ कई षडयंत्र करते हैं मगर फिर भी राजा के रूप में एक हथिनी उसका ही वरण करती है। जब-जब वो हथिनी इस आम आदमी को चुनती है तब-तब शोर होता है—**हथिनी-भूली, हथिनी-भूली, हथिनी-भूली।** भूल हथिनी से नहीं होती है। वह चौथी बार भी इस मामूली आदमी को गड्ढे से निकालकर माला पहना देती है और उसे उज्जैन के सिंहासन पर आसीन कर देती है।

यह कथा कहती है कि अन्त तक आशा को बनाये रखना, आशा को पा लेने का मूल आधार है। कभी भी निराश नहीं होना और आशा को निरन्तर सींचते रहना शिक्षा का भी मूलमंत्र है।

पाठको की जानकारी के लिए यह उल्लेख भी जरूरी है कि दुनिया के प्रसिद्ध शिक्षा चिंतक **पाउलो फ्रेरे** ने एक पुस्तक लिखी थी—**पैडेगॉजी ऑफ होप** अर्थात् **आशा और उम्मीद का शिक्षा शास्त्र। पाउलो फ्रेरे** ने इससे पहले जगत् को चकित करने वाली जो पुस्तक लिखी थी उसका नाम था **पैडेगॉजी आफ द ओप्रेस्ड** अर्थात् **दलितों का शिक्षा शास्त्र। फ्रेरे** की इस किताब ने शिक्षा जगत् में उथल-पुथल मचा दी थी। उस उथल-पुथल का परिणाम इतना बड़ा हुआ कि **फ्रेरे** के अपने देश **ब्राजील** ने उनको देश निकाला दे दिया था। **फ्रेरे** पूरी दुनिया को अपने शिक्षा चिंतन से अवगत कराते रहे, शिक्षा के कुछ प्रयोग करते रहे और उनकी कीर्ति और यश निरन्तर फैलता रहा। **ब्राजील** के शासकों को अपनी गलती का अहसास हुआ और उन्होंने

फ्रेरे को वापस अपने देश में आमंत्रित किया। उनको सम्मानित किया और उन्हें गरिमामय पद भी दिया गया।

फ्रेरे स्वयं अपने शिक्षा-दर्शन पर विचार करते रहे। चिंतन चलता गया और प्रयोग भी चलते रहे। दलितों के शिक्षा-शास्त्र को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने जो नयी पुस्तक दी उसी का नाम **आशा और उम्मीद का शिक्षा शास्त्र** है। शिक्षा का काम करने वाले हर नौजवान कार्यकर्ता के लिए, शिक्षकों के लिए और माता-पिताओं के लिए यह पुस्तक एक अत्यन्त उपयोगी एवं पठनीय पाठ्य सामग्री है। इस पुस्तक की **प्रस्तावना** ही इतनी असरदार है कि उसे पढ़ लेने के बाद हर पाठक पूरी पुस्तक पढ़ना चाहेगा। दिल्ली स्थित एक प्रकाशक **ग्रंथ-शिल्पी** ने **उम्मीदों का शिक्षा-शास्त्र** नाम से इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किया है।

कुछ वर्ष पहले जापान में **होप** नाम से एक नया शिक्षा-कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया था। यह कार्यक्रम एक जापानी शिक्षा परियोजना **एज्यूकेशन फॉर सस्टेनेबल डवलपमेंट** के अन्तर्गत प्रारम्भ हुआ था। इसका परिचय पाना भी रोचक बात होगी। पाठक इसे इंटरनेट पर ढूंढ सकते हैं। वैसे इस कार्यक्रम का नामकरण अंग्रेजी के शब्द **होप** के हर अक्षर के साथ नया अर्थ जोड़कर किया गया था। यहां **एच** का मतलब **होलिस्टिक** अर्थात् **पूर्णता प्रधान** था, **ओ** का मतलब **ऑनरशिप** अर्थात् **मिल्कियत** था, **पी** का मतलब **पार्टिसिपेटरी** अर्थात् **भागीदारी** था और **ई** का मतलब **एम्पावरमेंट** अर्थात् **सशक्तिकरण** था। इस प्रकार एक शब्द में इस कार्यक्रम की विशेषताओं को पिरो दिया गया था। आशय यही था कि **शिक्षा समाज को नयी आशा देती है, उसे अपने ही समाज में मालिकाना हक देती है, विकास के कार्यक्रमों में उसकी भागीदारी को सुनिश्चित करती है और उसका इतना सशक्तिकरण करती है कि वह अपने लोकतांत्रिक समाज में अपनी बात कारगर तरीके से कह सके और वह बात सुनी भी जाये।** पाठकों को शिक्षा में आशा और उम्मीद की बात पर आगे विचार करना चाहिए और इससे जुड़ी सामग्री को भी खोज कर पढ़ने का आनन्द लेना चाहिए। ❑

फरवरी, 2012

अध्यापक की योग्यता !

पिछले दिनों मध्यप्रदेश शासन ने अपने ही अध्यापकों की एक परीक्षा ली। परीक्षा में उन्हीं कक्षाओं के पाठ्यक्रम में से प्रश्न पूछे गये जिन कक्षाओं को वे पिछले कई वर्षों से पढ़ा रहे हैं। सरकारी आदेश था तो अध्यापक कहां जाते? परीक्षा में बैठना ही था। अध्यापक परीक्षा में बैठे और बहुत सारे अध्यापक असफल रहे। ठीक से याद नहीं मगर संभवतया सौ में से अस्सी अध्यापक असफल रहे होंगे। मध्यप्रदेश शासन ने इसे अध्यापकों की असफलता माना। उनकी योग्यता पर सवालिया निशान लगाया और अपने शासकीय अंदाज में उनको नीचा भी दिखाया।

शासन और शासकों ने यह नहीं सोचा कि परीक्षा किस की ली जा रही है! शासन की नजरों में कार्यरत अध्यापक यदि अयोग्य हैं तो यह असफलता शासन की अपनी असफलता है। इतना ही नहीं यदि शासकीय अधिकारियों के लिये ऐसी परीक्षा ली जाती तो वे भी भारी तादाद में असफल रहते। यदि ऐसी ही परीक्षा हमारे देश के मंत्री महोदयों के लिये आयोजित की जाये तो उनमें से भी अधिसंख्य लोग असफल होंगे और अयोग्य करार दिये जायेंगे।

यदि हम केवल अध्यापकों की योग्यता की परीक्षा पर विचार करें तो उससे दो निष्कर्ष निकल कर आते हैं। पहला तो यह कि अध्यापक मन लगाकर नहीं पढ़ाते और दूसरा यह कि जो पाठ्यक्रम बालकों पर थोपा गया है वह घनघोर रूप से लचर है और अप्रासंगिक है। उसका जीवन से कोई रिश्ता नहीं है। न केवल बालकों को वह पाठ्यक्रम बेमानी लगता है बल्कि अध्यापकों के लिये भी वह निरा बेजान और अप्रिय पाठ्यक्रम है। अध्यापकों की परीक्षा लेने से पहले यह भी विचार किया जाना चाहिए कि बालकों के मन पर किस अध्यापक की कैसी छाप है? किस अध्यापक ने किस बालक को इतना प्रभावित या उतना प्रभावित किया है कि वह बालक या छात्र अपने जीवन में उस अध्यापक की छवि को साथ लिये चलता है और उसके व्यवहार से अपने व्यवहार को निर्मित एवं निर्धारित करता है। आज की

स्कूली शिक्षा के नाकारापन के बावजूद यह एक बड़ा सच है कि कोई न कोई अध्यापक किसी न किसी प्रकार से बालकों का सद्भावी मित्र और सच्चा मार्गदर्शक बना हुआ है। इसे देखते हुए आशा की एक किरण दूर तक चमकती दीखती है कि—

बात अभी पूरी तरह से डूबी नहीं है। उम्मीद बाकी है और बाकी रहेगी भी।

एक पुरानी कहावत है कि—

गुरु जो करे वो तुम मत करो, मगर गुरु जो कहे वैसा जरूर करो।

इस कहावत में गुरु के निजी जीवन में खामियां या कमियां न निकालने का संदेश भी है और गुरु के विवेकवान कथन के प्रति आस्था बनाये रखने का एक संदेश भी है।

अध्यापकों के उन्नयन की जिन्दा व्यवस्था

देखना हमें यह है कि हम आज के अध्यापकों की योग्यता को कहां देखें और कैसे उसका मूल्यांकन करें? प्रश्न यह भी है कि अध्यापकों का मूल्यांकन कौन करे? मूल्यांकन से पहले देखा यह भी जाना चाहिए कि आज की स्कूलों में अध्यापकों के शैक्षिक उन्नयन की जिंदा व्यवस्थाएं क्या हैं? जिंदा व्यवस्थाओं से मेरा आशय उन प्राणवान प्रयासों से है जो अध्यापकों को नयी ऊर्जा दे सकें और प्राणदायी अवसरों से जोड़ सके। शासन आज यह नहीं सोचता है कि शिक्षा की जड़ को कहां से सींचा जा सकता है। शासन अपनी तरफ भी नहीं देखता है कि कैसे अर्द्धशिक्षित और अशिक्षित लोग ऊंचे पदों पर आसीन हैं।

शासन की सतत शिक्षा

यह एक अलग बात है कि पहली व्यवस्था शासन को शिक्षित करने की भी की जानी चाहिये। शासन की सतत शिक्षा की व्यवस्था दरअसल विश्वविद्यालय और महाविद्यालयों को सौंपी जानी चाहिये और फिर शासन और शिक्षा के बीच एक जाग्रत संवाद का आयोजन किया जाना चाहिये। अगर ऐसा हो सके तो संभवतया हमारे विद्यालय, महाविद्यालय और अध्यापकों का सहज उन्नयन तुरन्त संभव हो सकता है। और यदि दृष्टि केवल अध्यापकों एवं प्राध्यापकों के दोष दर्शन पर टिकी रही तो न तो अध्यापकों का विकास होगा और न विद्यालयों के स्तर में कोई शीघ्र सुधार संभव होगा।

दोष दर्शन से ज्यादा अच्छा है कि हम अध्यापकों को समुचित सम्मान दें। उनको अभिव्यक्ति की आजादी दें और नौकरशाहों की लालफीता शाही से उनको मुक्त करके उनके उत्थान और उन्नयन की शुद्ध शैक्षिक व्यवस्थाओं को सुनिश्चित करें। ❑

मार्च, 2012

पंक्ति कभी पूर्णता नहीं देती

मैं एक महाविद्यालय में हूं। इस महाविद्यालय का आज वार्षिकोत्सव है। मैं मंच पर हूं। सामने नीचे जमीन पर छात्राएं पंक्ति में बैठी हैं। पंक्ति आगे-पीछे से और दायें-बायें से भी, एक सिरे से दूसरे सिरे तक, सीधी रेखा में है। महाविद्यालय के संचालक यहां के अनुशासन की तारीफ करते हैं।

मैं पंक्तिबद्ध छात्राओं को देख रहा हूं। उनके चेहरों पर कोई किलक-पुलक देखने की कोशिश में लगा हूं। उनकी आंखों में सपनों को तैरते देखने का यत्न कर रहा हूं। इस यत्न में मेरी आशा-अपेक्षा भी जुड़ी हुई है। समारोह जिस उत्साह के साथ एक उत्सव के रूप में आयोजित किया जा रहा है वह उत्सव और वह उत्साह मेरी आशा-अपेक्षा का सहज आधार बन गया है, मगर चारों तरफ टटोलते हुए पाता हूं कि छात्राओं के सारे समूह में खासा ठंढापन है। चेहरों से सुस्मित मुस्कान भी नदारद है। फिर भी मैं उनसे कोई सार्थक संवाद करना चाहता हूं। संवाद संभव नहीं दीखता। सिर्फ एकालाप होता लगता है। वह कहीं हवा में ही नहीं रह जाये और कहीं संप्रेषित ही न हो; ऐसी संभावना भी साफ दिखाई दे रही है।

मुझे निरंतर यह महसूस होता है कि आयोजकों के उत्साह और प्रबन्ध कौशल के बावजूद वहां कुछ कमी है, कुछ अधूरापन है। कुछ है जिसे वहां होना चाहिए मगर वह वहां नहीं है।

तभी मुझे यह अहसास होता है कि यह अधूरापन पूरे समूह पर आरोपित अनुशासन और इस समूह को दी गयी इस पंक्तिबद्धता की देन है। मैं इस अधूरेपन के उत्स को समझने की कोशिश कर रहा हूं। पंक्तिबद्धता किसी समूह को किस तरह से जड़वत्त कर सकती है इस सच्चाई को पा लेने की कोशिश करता हूं। सच्चाई यह है कि **पंक्ति** कभी किसी भी समूह को पूर्णता नहीं देती है। वह इधर से भी खुली है और उधर से भी। **ओपन एन्डेड** है। यह खुलापन उसकी खूबी भले हो मगर उसे पूर्णता से वंचित रखता है।

पंक्ति दरअसल एक सीधी रेखा की परिचायक है। वही रेखा उसका आधार है। रेखा का सीधा होना एक ज्यामितिक सच्चाई है मगर रेखा का सरल-विरल न होना और नदी की तरह कहीं भी न मुड़ पाना एक दूसरा दुख है। नदी का सौन्दर्य और उसकी रचनात्मकता उसके सरल-विरल होने में और इस स्वच्छंदता में है कि वह लहराती बलखाती कहीं भी मुड़ सके। पंक्ति को सीधा रखने का हमारा आग्रह सदा दुराग्रह बना रहता है। हम पंक्ति को तो सीधा रख लेते हैं मगर पंक्ति में खड़ा हर प्राणी उतना सीधा-सादा हो इसे हम सुनिश्चित नहीं कर सकते। करना भी नहीं चाहिए। हमें अमूमन यह खबर ही नहीं होती कि पंक्ति में खड़े छात्र स्वयं एक दूसरे से कितने भिन्न हैं, कितने दूर हैं और कितने आंके-बांके हैं। छात्र अथवा छात्राओं का स्वभावगत बांकपन उनके व्यक्तित्व की शोभा है, उनकी खरी निजता है। अनुशासन के दुराग्रह में हम हमारे छात्र समुदाय की यह निजता छीन लेते हैंऔर जो कुछ आरोपित होता है वह निरा आडम्बर होता है।

फिलवक्त हम **पंक्ति** की बात कर रहे हैं। हमें **पंक्ति** की इस सच्चाई पर गौर करना चाहिए कि इसमें खड़े लोग एक दूसरे के आगे-पीछे और अगल-बगल में तो खड़े रह सकते हैं, मगर कोई किसी को आंख में आंख मिला कर देख नहीं सकता। कोई किसी का चेहरा भी नहीं देख सकता। जबकि इसके विपरीत घेरे में बैठे सभी छात्र-छात्राएं एक दूसरे का चेहरा देख सकते हैं; एक दूसरे की आंख से आंख मिला सकते हैं। मुझे सहसा आदिवासी मेलों की याद आ जाती हैं जहां हर उत्सव घेरे में आयोजित होता है। लोग रात-रात भर गोल घेरे में नाचते रहते हैं।

घेरे की बात हम बाद में करेंगे। पहले **पंक्ति, रेखा, कतार, क्यू** अथवा **लाइन** पर थोड़ा और विचार करें। देखें कि **लाइन अथवा पंक्ति** का जन्म किस समाज में हुआ। थोड़ा सा भी विचार करेंगे तो साफ नज़र आयेगा कि लाइन में खड़ा होना अथवा लाइन में चलना फौज़ी अनुशासन का हिस्सा है। **पंक्ति** की यह सभ्यता हमें फौज़ से ही विरासत में मिली है। यही वजह है कि फौज़ की आक्रामकता **पंक्ति** का अभिन्न स्वभाव हो गयी है। पुलिस थाने का एक मुहावरा है **'लाइन हाजिर'**करना। इसका मतलब होता है कि सजा देने के लिए सामने ला खड़ा करना। जाहिर है कि लाइन बनाना अथवा लाइन में बने रहना कोई मानवीय गरिमा अथवा गौरव की बात नहीं है। इसके विपरीत **घेरे** अथवा **वृत्त** की आंतरिक संभावनाएं सर्वथा अलग हैं।

हमें **घेरे** अथवा **वृत** की सच्चाई पर सोचना चाहिए। इसका दूसरा पर्याय गोला भी है और तीसरा पर्यायवाची शून्य भी है। उससे भी आगे सोचें तो शून्य का असल पयार्यवाची सम्पूर्णता भी है। **घेरा बनता ही नहीं जब तक एक सिरे से दूसरा सिरा मिल नहीं जाता।** एक **ओर** से दूसरा **छोर** जब तक मिल नहीं जाता तब तक घेरा या वृत्त बनता ही नहीं। बहुत सीधी सी बात है कि रेखा एक ओर को दूसरे छोर से अलग बनाये रखने का नाम है और घेरा ओर छोर को मिलाकर एक दूसरे की शक्ति-संपन्नता को अभिव्यक्त कर देने का नाम है। शक्ति-संपन्नता से मेरा आशय तेजस्विता एवं आंतरिक ओजस्विता से है। यह कितना सच्चा रूपक है कि ओर छोर को मिलाये बिना किसी की शक्ति संपन्नता व्यक्त ही नहीं होती, उसकी निजी पूर्णता अथवा संपूर्णता का ज्यामितिक चित्रण भी नहीं हो सकता।

सोचना हमें यह है कि शिक्षा में समूह की संपूर्णता अथवा शक्ति-संपन्नता क्या है? किसी शैक्षिक समुदाय की आंतरिक एवं स्वभावगत समग्रता क्या है? क्या एक दूजे से अलग-थलग बने रहना कोई शैक्षिक सच्चाई है या कि एक दूजे से मिल कर सबको अपने में समाहित कर लेने की सामर्थ्य हमारी शैक्षिक सच्चाई है? हम **बहुत होकर** भी **एक हो जायें** यह हमारा **स्व-धर्म** अथवा जन्मजात स्वभाव है। हम एक के एक बने रहें, किसी ठूंठ की तरह खड़े रहें अथवा किसी लट्ठे की तरह पड़े रहें, रहें मगर एक के एक ही। क्या यही हमारी शैक्षिक सच्चाई है? इतने सारे सभी सवाल पंक्तिबद्धता से उपजे हैं। पंक्तिबद्धता आरोपित अनुशासन का नाम है। विचारणीय प्रश्न यह है कि इस आरोपित अनुशासन का शिक्षा में कोई स्थान है या नहीं? **पंक्ति** तो इस आरोपित अनुशासन की एक अभिव्यक्ति मात्र है। यदि सिर्फ पंक्ति ही हमसे हमारी निजता को छीन सकती है तो भला आरोपित अनुशासन का दूरगामी परिणाम छात्रों के दिलो-दिमाग पर कितना होगा और कितना घातक होगा? इसे समझ लेना जरूरी है।

पाठकों को ऐसा लग सकता है कि मैं **पंक्ति** का कोई पुराण रच रहा हूं। लगना स्वाभाविक भी है क्योंकि मैं मात्र **पंक्ति** पर इतनी लम्बी बात कर रहा हूं। बहुत सारी छवियां और बहुत सारे कुदरती दृश्य दिमाग में तैरते हैं। तारे कभी **पंक्ति** में उदय होते नहीं दीखते। फूल कभी पंक्ति में खिलते नहीं दीखते। तितलियां कभी **पंक्ति** में उड़ती नहीं दीखतीं। चिड़ियां कभी **पंक्ति** में उड़ती नहीं दीखतीं। केवल वे पक्षी **पंक्ति** में उड़ते हैं जो बहुत दूर-देश से आते हैं और जिनकी आकाश यात्रा बहुत लम्बी होती है। उनका अपना एक

स्वभाव है अथवा उनकी यात्रा की आवश्यकता है कि वे **पंक्ति** में उड़ें। आवश्यकता हमारी भी है कि हम **पंक्ति** में खड़े रहकर रेल का अथवा बस का टिकट खरीदें, राशन की दूकान पर **पंक्ति** में खड़े रहें और डाक्टर के दरवाजे पर भी **पंक्ति** में खड़े रहें। यह सब दरअसल दूसरों के हक को न मारने और अपनी बारी आने पर अपना हक पाने का सामान्य शिष्टाचार है। यहां हम अपने लिए भी शिष्ट होते हैं और दूसरों की सुविधा के लिए भी शिष्ट होते हैं। यह हमारे स्वभाव की न्यायप्रियता है जो हमें अराजकता से बचाती है। मगर इसके विपरीत आरोपित अनुशासन के अन्तर्गत दी गयी पंक्तिबद्धता चहकते हुए छात्र समुदाय को जड़ता दे जाती है और उनसे उनके सपने, उनकी मुस्कान छीन ले जाती है। बताइये हम इस पंक्तिबद्धता से कैसे बचें और कैसे अपने उत्सवी समारोहों के उल्लास को बचाये रखें? ❑

अप्रेल, 2012

एक शाला मां-बापों के लिए

समाज में पाठशालाओं, स्कूलों अथवा शिक्षा की दूसरी दूकानों की कोई कमी नहीं है। छोटे से छोटे बच्चे को मां-बाप स्कूल भेजने की जल्दी करते हैं। दो-ढाई साल के बच्चे को भी स्कूल में बिठा कर आ जाने का आग्रह हर घर में बना हुआ है।

इसके विपरीत हर घर की दूसरी सच्चाई यह है कि कोई भी मां-बाप बालकों के बारे में, बालकों की सही शिक्षा के बारे में और साथ ही सच्चा एवं अच्छा माता-पिता अथवा अभिभावक होने का शिक्षण प्रशिक्षण कहीं से भी प्राप्त नहीं करता। माता-पिता बनने से पहले किसी भी नौजवान जोड़े को यह नहीं सिखाया जाता है कि मां-बाप बनने का अर्थ क्या है? इससे पहले किसी भी जोड़े को यह भी नहीं सिखाया जाता कि अच्छे और सच्चे दाम्पत्य की शुरुआत कैसे की जानी चाहिये? पति-पत्नी होने का अर्थ क्या है? यह भी कोई नहीं बताता। परिणाम साफ है कि जीवन शुरू होने से पहले ही घर टूटने-बिखरने लगते हैं। घर बसाने की शाला न आज तक कहीं खुली है और न खुलती दीखती है। समाज और सत्ता दोनों या तो इस संकट के प्रति सजग नहीं है या फिर इसे अनदेखा कर रहे हैं।

आज पहली जरूरत यह है कि हम नौजवान जोड़ों को पूरी आत्मीयता के साथ सच्चे दाम्पत्य की शुरुआत करना सिखायें। कोई ऐसी शाला खोलें जो उनको दाम्पत्य जीवन की शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक सच्चाई से अवगत कराये और उन्हें सच्चे सहजीवन का प्रशिक्षण दे। सहजीवन के लिये कितने प्रगाढ़ प्रेम की आवश्यकता है और कितनी सहिष्णुता एवं धैर्य की आवश्यकता है यह भी विस्तार से बताना जरूरी है। अच्छे घर कभी बिना त्याग और तप के नहीं बसते हैं यह सिखाना भी जरूरी है। घर गृहस्थी के अर्थ शास्त्र की जानकारी भी प्रारम्भ में ही दी जाये तो अच्छा है। यदि कोई जोड़ा सौभाग्य से संयुक्त परिवार में रहने का अवसर पाता है तो उसे अपने

संयुक्त परिवार की इतिवृत्तात्मक जानकारी पा लेने के साथ-साथ उसमें रहने का सलीका भी सीख लेना चाहिये। जरूरत इस बात की है कि हम ऐसी शालाएं खोलें जहां सच्चे दाम्पत्य का शिक्षण पहले हो और बाद में अच्छे मां-बाप बनने का शिक्षण।

अच्छे माता-पिता बनने के लिये जरूरी है कि हम बालकों के लालन-पालन की सारी बारीकियों को समझें और उन पर आचरण करें। अभी कुछ वर्ष पहले हमने अनौपचारिका में माता-पिताओं के लिये लिखी गयी **महात्मा भगवानदीन** की किताब को क्रमश: प्रकाशित किया था। तब हमें पचासों मां-बापों ने कहा था कि इस किताब को तुरन्त प्रकाशित करके हर घर को उपलब्ध करवा दीजिये। जाहिर है कि वे तमाम माता-पिता अपनी अज्ञानता पर तरस खाते हुए ऐसी मांग कर रहे थे। असली तरस की बात तो यह है कि माता-पिताओं का आधा-अधूरा ज्ञान बालकों के जीवन पर सीधा अत्याचार है। वे अज्ञानवश शिशुओं, बालकों एवं किशोरों के साथ दुर्व्यवहार करते हैंऔर इसका घातक असर बच्चों के जीवन पर पड़ता है।

जब कोई शाला मां-बापों के लिये खुलेगी तो आशा करनी चाहिये कि वह किशोर-किशोरियों एवं बालकों के मनोविज्ञान का जरूरी ज्ञान भी माता-पिताओं को दे सकेगी। अच्छा मां-बाप बनने के लिये आवश्यक पुस्तकों को पढ़ना भी सर्वथा अपेक्षित है। आज कितने लोग मां-बाप बनने से पहले उन पुस्तकों को पढ़ते हैं जिन्हें पढ़ने से उनकी समझ विकसित होती होऔर उन्हें नयी दृष्टि मिलती हो।

पहले तो अपनी आवश्यकता के अनुरूप पुस्तकों को पढ़ना जरूरी है और बाद में बालकों की आवश्यकता के अनुरूप पुस्तकों का अध्ययन भी उतना ही आवश्यक है। क्या हमने कभी सुना है कि हिन्दी जगत में एक ऐसी पुस्तक भी उपलब्ध है जिसका नाम **मां-बापों की माथापच्ची** है। यह पुस्तक **गिजुभाई बधेका** ने लिखी थी। वे पेशे से वकील थे मगर अपनी इच्छा से उन्होंने बालकों की वकालत करने के लिये बाल-शिक्षण का काम बहुत चाव से अपना लिया था। बाल-शिक्षण उनका स्वधर्म बन गया था। उनका व्यसन बन गया था। बालकों के बीच रहकर के ही वे बाल-व्यवहार की सरो बारीकियों को समझते और सीखते रहते थे। गिजुभाई का अपना सारा अध्ययन बालकों के बीच हुआ था दक्षिणामूर्ति बाल मंदिर में काम करते हुए।

क्या किसी अभिभावक को यह पता है कि रूस के एक बहुत बड़े शिक्षा शास्त्री **मकारेंको** ने एक किताब लिखी थी—**माता-पिताओं के लिये**।

यह किताब अच्छा अभिभावक बनने का एक शास्त्र है, एक कुंजी है, एक मार्ग-निर्देशिका है। आज किसी घर में खोजें तो भी यह किताब नहीं मिलेगी। घर की बात छोड़ दें बी.एड. कॉलेज में या विश्वविद्यालय में शायद ही यह पुस्तक मिल सके।

रूस के एक और शिक्षाशास्त्री थे उनका नाम था—**सुखोम्लीन्सकी**। उनकी एक क्रांतिकारी किताब है—**बाल हृदय की गहराइयां**। यह पुस्तक भी उन तमाम माता-पिताओं के लिये आवश्यक किताब है जो अपने बालकों की परवरिश पूरी सजगता के साथ करना चाहते हैं। हर घर की जरूरत है यह किताब मगर इसे रखने की चाहत कितने मां-बापों में है? इन पुस्तकों से पहले नौजवान जोड़ों को दांपत्य-जीवन संबंधी कुछ प्रामाणिक पुस्तकें पढ़नी चाहिए। अपने यौन व्यवहार एवं यौन-स्वास्थ्य संबंधी विशेष रूप से लिखी पुस्तकें पढ़नी चाहिये। बाजारू पुस्तकों से बचना भी जरूर है। शुद्ध रूप से हमारे शरीर विज्ञान पर आधारित पुस्तकें जवान जोड़ों की जानकारी बढ़ा कर उनको सच्चे दाम्पत्य का सुख दे सकती हैं।

जीवन में पूर्ण सामंजस्य दाम्पत्य सुख की पहली शर्त है। इसके लिए सहजीवन की सही समझ आवश्यक है। एक दूसरे को जानना जरूरी है 'मिले सुर तेरा हमारा'। जरूरी है हारमनी। जरूरी है संगीत। लेकिन ऐसी समझ में सहायक सिद्ध होने वाली किताबें कितने घरों में उपलब्ध है। एक पुस्तक आयी थी **स्त्री-पुरुष सहजीवन**। लेखक थे दादा **धर्माधिकारी**। वह किताब हर जोड़े के लिए एक अनिवार्य पाठ्य सामग्री है। मगर यह पुस्तक है कहां? कौन जानता है?

ऐसे ही आने वाले बालक का स्वागत करने के लिए जरूरी है **मां-मोंतेस्सोरी** के शिक्षा दर्शन की। **मोंतेस्सोरी** की पुस्तकें हर घर को बच्चे के लालन-पालन की सही दृष्टि दे सकती है। लेकिन आज कितने जवान जोड़े जानते हैं मोंतेस्सोरी के बारे में।

जो जोड़े कल मां-बाप बनेंगे उनके पास बच्चों को कहने के लिए कहानियां होनी चाहिए। घर में जब तक **पंचतंत्र, कथा—सरित्सागर** और बाल साहित्य का भंडार जरूरी है। पुरा कथाओं का भंडार जरूरी है। और इस सबके लिए हर घर में मां-बापों के लिए एक शाला जरूरी है। एक पाठशाला? ❑

मई, 2012

एक थे शंकर

जी हां, अब **शंकर** को जान लेना जरूरी है। यह जान लेना जरूरी है कि **शंकर** कौन थे। ये **शंकर शिवजी** वाले **शंकर** नहीं थे, **महादेवजी** वाले **शंकर** नहीं थे, मगर दिल्ली में रहने वाले एक वरिष्ठ नागरिक थे। पूरा नाम था **शंकर पिल्लै**।

शंकर एक अंगरेजी साप्ताहिक पत्रिका के संपादक थे। अखबार का नाम था—**'शंकर्स वीकली'।** शंकर अपने आप में एक निराले आदमी थे। उनके हाथ में हुनर था। कार्टून बना सकने का हुनर। कार्टून बनाने की एक नयी शैली विकसित की थी। उनकी अपनी शैली थी। अपनी एक निजता थी। यह शंकरर्स शैली थी। इसीलिए उनकी इस पत्रिका का नाम था—**शंकर्स वीकली**।

कई बरस तक अंग्रेजी में निकलने के बाद यह अखबार हिन्दी में भी निकला था लेकिन हिन्दी में बहुत चला नहीं। **शंकर** अपने अखबार में सिर्फ कार्टून छापते थे। कार्टून के नीचे स्वयं चुटकियां लेते हुए अथवा चुहल करते हुए कुछ टिप्पणियां लिखते थे। वे स्वयं न लिखें तो दूसरे पत्रकार लिखते थे। उनका यह पत्र रोचक राजनैतिक विश्लेषण एवं व्यंग्य का एक बड़ा प्लेटफॉर्म था।

इस पत्र के लिये **शंकर** लगभग 27 बरसों तक लगातार कार्टून बनाते रहे। मैंने स्वयं शंकर को कार्टून बनाते हुए देखा है। इसलिए बड़ी हसरत के साथ उनकी तल्लीनता को और उनकी तल्खी को याद कर रहा हूं। वे जिस कमरे में कार्टून बनाते थे उस कमरे में एक कांच की खिड़की लगी थी। आने वाले मेहमान लोग बाहर गलियारे में खड़े होकर उन्हें कार्टून बनाते हुए देख सकते थे। एक लम्बा-चौड़ा सांवला सा आदमी सफेद कोट पहनकर हाथ में लम्बा सा ब्रश लिये सामने खड़े बोर्ड पर जब कार्टून बना रहा होता था तब वह पत्रकार कम और एकाकी साधक अधिक दीखता था। वैसे भी बुधवार के दिन शंकर किसी से मिलते-मिलाते नहीं थे। यह उनके कार्टून बनाने का दिन

होता था। अपनी पत्रिका के बीच के पन्नों पर नाना विषयों पर टीप करते हुए कई कार्टून होते थे और एक कोने में **शंकर** स्वयं अपने पर टिप्पणी करते हुए एक कार्टून बनाते थे। इस कार्टून में वे अपने को **गधे** के रूप में चित्रित करते थे और अपनी पत्नी को **गधी** के रूप में। आज जब लोग अपनी तारीफ करते नहीं थकते हैं तब शंकर अपने ही पत्र में हर हफ्ते कोई खामी निकाल लेते थे और खुद अपने पर हंसने का सामान परोस देते थे। वे कहते थे कि हंसना-हंसाना समाज की बहुत बड़ी ताकत है। मगर साथ ही वे यह भी कहते थे कि हंसने-हंसाने का काम वही समाज कर सकता है जो सर्वथा आजाद है और लोकतांत्रिक है। सभी लोग **शंकर** के इस पत्र को रुचि से पढ़ते थे और कभी किसी के स्वाभिमान को कोई ठेस नहीं लगी थी। किसी ने कभी कोई एतराज नहीं किया था।

पाठकों को शायद यह जानकारी है कि **शंकर** भारत के **प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू** के अभिन्न मित्र थे। न केवल मित्र थे बल्कि उनकी नीतियों का सम्मान करते थे। उन्होंने दिल्ली में बहादुरशाह जफर मार्ग पर एक **नेहरू भवन** बनाया था। इस **नेहरू भवन** में एक तरफ गुड़ियाओं का एक अन्तरराष्ट्रीय संग्रहालय था। वहां पर देश-विदेश की गुड़ियाएं प्रदर्शित की गयी थीं। **जवाहरलाल जी** बच्चों से बहुत प्यार करते थे और **शंकर** भी अपना दुलार भारत के बच्चे-बच्चे को बांटते थे। यही वजह है कि उन्होंने हिन्दी, अंगरेजी और अन्य भारतीय भाषाओं में बालकों के लिये साहित्य प्रकाशित करने के ट्रस्ट की स्थापना की थी और यह ट्रस्ट इसी नेहरू भवन में एक मंजिल पर चला करता था। **नेहरू** के प्रति ऐसी मित्रता के बावजूद **शंकर** अपने किसी भी कार्टून में **नेहरू** को बख्शते नहीं थे क्योंकि खुद **नेहरू** ने उनसे कहा था—**'मुझे कभी बख्शना मत शंकर।'** **नेहरू** के स्वाभिमान को कभी चोट नहीं लगी थी। उन्होंने ऐसा नहीं समझा था कि उनकी कभी किसी ने हेठी की है। वे बड़े लोग थे और वह दोस्ती भी बड़े लोगों की दोस्ती थी। आज के राजनेता भला क्या समझें कि बड़प्पन क्या होता है? शायद यही वजह है कि वे यह भी नहीं जानते कि कार्टून क्या होता है?

देश में जब आपातकाल की घोषणा हुई और हमारी आजादी का गला घोंटकर जब इमरजेंसी लगा दी गयी तब **शंकर** ने सहसा उस पत्रिका को बंद कर दिया। **शंकर** के आखिरी अंक का अंतिम संपादकीय बहुत ही बेशकीमती है और विश्वास है कि हमारी दुनिया इस बेशकीमती संपादकीय को सम्भाल कर रखेगी। उस संपादकीय की एक पंक्ति थी कि-**तानाशाही विनोद और हास्य कभी बर्दाश्त** नहीं कर सकती। **शंकर** ने लिखा था—**'डिक्टेटरशिप**

कैन नॉट एफोर्ड लाफ्टर' इसी टिप्पणी के साथ **शंकर्स वीकली** बंद हो गया था। आज भी सच यही है। यह हमारे वर्तमान स्वरूप का सच है कि हम हास्य विनोद बर्दाश्त नहीं कर सकते। हम अहंकार और स्वाभिमान में फर्क नहीं समझ सकते। हम भीतर से खोखले हैं इसलिये शुद्ध हास्य में भी हम अपनी हेठी समझते हैं। हमारा अहंकार आज सिर पर चढ़ कर बोल रहा है और यही वजह है कि हम कार्टून में कही गयी बात को नहीं समझने के दुराग्रह पर अटक जाते हैं और बिना समझे यह घोषणा कर बैठते हैं कि किताबों में अब कार्टून नहीं होंगे। ऐसी स्थिति में **शंकर** अधिक याद आते हैं। उनके प्रति पुनः श्रद्धाभाव जागता है और फिर से हमारे सामने एक उदात्त शिक्षाविद् आकर खड़ा हो जाता है जिसका नाम था **शंकर पिल्लै**। ❑

जून, 2012

शिक्षा मंत्रियों की शिक्षा कौन करे ?

यह एक रोचक विषय है। इससे भी अधिक रोचक विषय तो यह है कि हमारे देश के सभी प्रदेशों के शिक्षामंत्री रोज क्या पढ़ते हैं और प्रतिपल सीखने को कितने तत्पर रहते हैं? यह एक सामान्य बात है कि जो स्वयं शिक्षामंत्री है उसके लिये रोज सीखना तो उतना ही आवश्यक है जितना प्रतिदिन दोनों वक्त का भोजन करना।

इस विषय के अध्ययन से पहले गवेषणा का पहला विषय यह होगा कि हमारे देश के सभी प्रदेशों के शिक्षामंत्री कौन-कौन सी शालाओं में पढ़े हैं। प्रश्न केवल शालागत पढ़ाई का ही नहीं है, डिग्री हासिल करने का ही नहीं है उससे भी पहले वे कैसे घरों में जन्मे हैं, किस समाज में खेले और बड़े हुए हैं? उनका बचपन किस प्रकार अनन्त प्यार और स्नेह से सींचा गया है? उनको अपने बचपन में खेलने के लिये कितने बड़े और खुले मैदान मिले हैं। उन्होंने अपने बचपन में खुला आकाश देखने, पहाड़ों पर चढ़ने, समुद्र के सुदीर्घ विस्तार को देखने और कुदरत के करीब रहकर सच्चा पाठ पढ़ने के कितने अवसर पाये हैं?

इतना ही नहीं जरूरत तो इस बात की भी है कि उन्होंने अपने बचपन में कितनी गरीबी देखी है? और यदि गरीबी स्वयं अपने परिवार में नहीं देखी है तो उन्होंने गरीब को देखने और दीन दुखियों की सेवा करने के कितने सीधे अवसर पाये हैं? क्या देश के किसी एक भी शिक्षा मंत्री ने किसी कोढ़ी के घावों पर मरहम लगाया है? किसी ऐसे बच्चे को दूध पिलाया है जिसको दूध का स्वाद पता नहीं है। क्या कभी किसी शिक्षामंत्री ने किसी विकलांग बालक को गोद लेकर उसे बड़ा करने का सुख पाया है? इन सब सवालों की अपनी एक प्रासंगिकता है और इनके अपने कुछ ऐतिहासिक संदर्भ भी हैं। जब हम किसी कोढ़ी की सेवा की बात करते हैं तो हमें गांधीजी की याद आती है और साथ ही बाबा आम्टे की याद भी आती है। उन संदर्भों को याद करते हुए हम आश्वस्त होते हैं कि समाज से जुड़े बिना और जरूरतमंद

लोगों की सेवा किये बिना किसी भी व्यक्ति की सच्ची शिक्षा हो ही नहीं सकती।

समाज-सेवा के अवसरों के अलावा सीखने का जो दूसरा स्रोत है वह है भारतीय चिंतकों, शिक्षाविदों एवं संत महात्माओं अथवा ऋषि-मुनियों की चिंतनधारा में अवगाहन करना। देखना हमें यह है कि हमारे किस शिक्षामंत्री ने गुरुदेव रवीन्द्र नाथ ठाकुर और महात्मा गांधी को कितना करीब से जाना है और उनके विचारों और दर्शन से क्या सीखा है? जानना यह भी जरूरी है कि उन्होंने महर्षि अरविन्द, महर्षि रमण और भारत के महान ऋषि परमहंस रामकृष्ण से क्या कुछ सीखा है? इस देश में जिन लोगों ने शिक्षा का काम किया उनमें गिजुभाई बधेका भी एक थे, ताराबेन मोडक भी एक थीं और अनुताई वाघ भी एक थीं। जानना होगा कि हमारे देश या प्रदेश का कौन शिक्षामंत्री इन शिक्षाविदों को करीब से जानता है और इनकी राय को अंगीकार करते हुए इनकी बात को मानता है? पूछना यह भी पड़ेगा कि किस शिक्षामंत्री ने **विनोबा** को भी करीब से जाना और समझा है? **विनोबा** के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे बीती हुई शताब्दी के अंतिम ऋषि थे। उनकी पुस्तक **शिक्षण विचार** हर शिक्षामंत्री के लिए एक अनिवार्य पुस्तक है।

जानना यह भी जरूरी है कि हमारे किस शिक्षामंत्री को भारतीय वाङ्मय की कितनी समझ है और हमारी समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा की कितनी पहचान है? भारत के पहले प्रधानमंत्री **जवाहर लाल नेहरू** ने जेल में रहकर इस देश के इतिहास और इसकी सांस्कृतिक परम्परा का गहन अध्ययन किया था। ऐसा अध्ययन करते हुए उन्होंने अपने लिए इस देश को पुनः अन्वेषित किया था। तभी वे **डिस्कवरी ऑफ इंडिया** जैसी किताब लिख सके थे। इतना ही नहीं जब **दिनकर जी** ने **संस्कृति के चार अध्याय** जैसा ग्रंथ लिखा तो उसकी भूमिका **जवाहर लाल नेहरू** ने लिखी थी। वह भूमिका आज भी हर मंत्री के लिए एक पठनीय सामग्री है।

जरूरत तो इस बात की भी है कि हमारे देश के शिक्षामंत्री दुनिया के सारे क्रांतिकारी शिक्षाविदों को पढ़ें **मकारेंको**, **सुखोम्लीन्सकी**, **पियाजे**, **जॉन हॉल्ट**, **पाउलो फ्रेरे**, **इवान इलिच**, **माता मोन्तेस्सोरी**, **एवर्ट रीमर**, **पॉल गुडमैन**, **जानूस कोर्चाक** और एक छोटे से अफ्रीकी देश गिनीबिसाऊ के पहले प्रधानमंत्री **अमिलकर कबराल** आदि कई नाम हैं जिनके लेखन में झांक लेने तक से एक तीर्थ यात्रा जैसा लाभ मिल सकता है। मगर सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि शिक्षामंत्रियों की शिक्षा कौन करे? और उससे भी पहले उनकी शिक्षा

का लेखा-झोखा कौन ले? ये सारी बात मैं इस संदर्भ में लिख रहा हूं कि एक समाजवादी सरकार का शिक्षामंत्री बच्चों को मारने से और सजा देने से शिक्षा का सीधा रिश्ता जोड़ता है। उनका कहना है कि बिना सजा के बिना सच्ची शिक्षा हो ही नहीं सकती। हमारी प्रार्थना है कि ईश्वर उनको सन्मति दे और सद्बुद्धि दे। ❑

जुलाई, 2012

कहिए, कैसी रही ?

अखबार तो रोज पढ़ते हैं मगर आज एक छोटी सी खबर पर नजर पड़ गयी थी उस खबर ने अचानक मन के घोड़े दौड़ा दिये थे। एक साथ कई विचार मन में आने लगे थेऔर तुरन्त ही मन में एक शीर्षक की रचना भी हुई थी। शीर्षक था—**अन्वेषण हमारी अस्मिता।**

शीर्षक सूझते ही पड़ताल आगे शुरु हो गयी थी। तुरन्त **डॉक्टर अपर्णा मक्कड़** को फोन किया जो एक इंजीनियरिंग कॉलेज में पढ़ाती हैं और निरन्तर अन्वेषण में गहरी रुचि रखती हैं। उनको इस खबर का हवाला देते हुए कहा कि अपने इंटरनेट और दूसरे साधनों के मार्फत पता लगा के बताओ कि अन्वेषण की दुनिया में भारत में क्या-क्या घटा है और ऐसा क्या घटा है जिससे कि हम अपनी पहचान को जोड़ सकें, अपनी अस्मिता का नाम दे सकें। **अपर्णा जी** को बात बहुत अच्छी लगी थी। उनका मन और भी आगे दौड़ पड़ा था। **अपर्णा जी** ने कहा कि इस विषय पर तो हमें **अनौपचारिका** का पूरा एक विशेषांक निकालना चाहिए। मैंने भी सहमति जताई और कहा कि फिलहाल संपादकीय को पहले अग्रेषित कर देते हैं फिर आगे अंक की घोषणा भी कर देंगे।

बात यहीं ठहर जाने वाली नहीं थी। जब अन्वेषण की बात आयी तब **आर्यभट्ट** से लेकर आज तक की सारी वैज्ञानिक गवेषणाओं और अन्वेषणों पर नजर दौड़ती गयी। **रमन, रामानुजम, जगदीश चन्द्र बोस** और अभी हाल ही में अन्वेषित **ईश्वरीयकण** के साथ जिस भारतीय वैज्ञानिक **बोस** का नाम जुड़ा है उन सब का स्मरण आया। मन आगे पीछे डोलता रहा। **बुद्ध** ने जिन कणों के प्रतिपल उत्पाद और व्यय का जिक्र करते हुए इस जीवन को निरा अनित्य ठहराया उनकी याद भी आयी और **महावीर** ने जिस अप्रतिम प्रतिभा के साथ पदार्थ की दुनिया में पुद्‌गल की जो व्याख्या की है उसका स्मरण भी आया। सोचने लगा कि अन्वेषण के साथ अपनी अस्मिता को जोड़ना

निश्चित ही एक गरिमामय परम्परा का उल्लेख करना होगा। लगने लगा कि आधा संपादकीय तो लिख दिया गया है।

मैंने फिर इस विश्वास के साथ **प्रेम जी** को फोन किया कि वे कम से कम संपादकीय का शीर्षक तो दर्ज कर लें। जब तक संपादकीय नहीं लिखा जाता है तब तक **दिलीप जी** और **प्रेम जी** के मन में न केवल अकुलाहट बनी रहती है बल्कि एक ऐसा तकाजा भी दोनों तरफ से मुझे मिलता रहता है कि मैं देर हो जाने के अपराध बोध से सदा घिरा रहता हूं। **प्रेम जी** को शीर्षक लिखवाया '**अन्वेषण हमारी अस्मिता।**' फिर समझाया कि इसे मैं यूं भी कह सकता हूं कि '**निरन्तर खोज ही हमारी पहचान है।**' साथ ही मैंने यह भी कहा कि अन्वेषण और अस्मिता के अनुप्रास का मोह मैं नहीं छोड़ पा रहा हूं इसलिये यह शीर्षक कुछ अधिक प्रिय लग गया है।

बात यहां पर भी नहीं ठहरने वाली थी। मन के आगे जो घोड़े जुते थे वे मन को विज्ञान की दुनिया से शिक्षा-संसार की ओर भी मोड़ बैठे। तुरन्त मैंने दिल्ली में एन.सी.ई.आर.टी.की **प्रोफेसर उषा शर्मा** को फोन किया और उनसे अनुरोध किया कि शिक्षा के क्षेत्र में भारत के उस योगदान के बारे में मुझे विस्तार से बतायें जिसे वे भारत की देन समझती हैं। उन्होंने कुछ जवाब भी दिया और फिर थोड़ी देर बाद फोन करने को भी कहा। बात आगे बढ़ती गयी। मैं अपने बड़े भाई साहब **शिवरतन जी** को फोन करना भी जरूरी समझता था क्योंकि उनके अध्ययन-मनन के सामने मैं अब भी निरा बालक हूं। बहुत सीखना है।

उनको संपादकीय का शीर्षक बता कर पूछने लगा कि शिक्षा के क्षेत्र में भारतीय शिक्षाविदों, चिंतकों एवं ऋषि-मुनियों की देन के बारे में मुझे कुछ बतायें जिसे वे भारतीय अस्मिता के साथ जोड़ कर देखना चाहेंगे। बिना पल भर की देर किये उन्होंने तुरन्त कहा कि अस्मिता में क्या पड़ा है? अस्मिता तो शब्द ही गलत है। इससे तो निरा अहंकार परिलक्षित होता है। मैं भी फौरन उनके संकेत को समझ गया कि वे क्या कहना चाहते हैं? तुरन्त यह समझ में आया कि **बुद्ध, महावीर** और **गांधी** हमारे थे तो क्या हुआ? वे सारी इंसानियत के भी तो थे। वे तो पूरी दुनिया के थे। हम उनकी देन को ओढ़ते हुए भुनाने का यत्न क्यों करें? ऐसे ही जिन वैज्ञानिकों ने जो कुछ दिया वह भी पूरी मानवता का था। विचार तो वैसे भी विश्वजनीन होता है। मैं भाई साहब द्वारा दिये गये संकेत में इतना सब कुछ देखते हुए यह महसूस करने लगा कि शिक्षा तो अहंकार को विगलित करती है। हम उसे हमारी ही

अस्मिता से क्यों जोड़ें? और क्यों अपनी अस्मिता की बात करें? बस, इसके साथ ही हमारा शीर्षक निरस्त हो गया। कहिए; कैसी रही? ❑

पुनश्च :

पाठक कृपया इसे मेरी व्यथा—कथा समझें। गौर करें कि संपादकीय लिखने की हमारी अन्तः प्रक्रिया क्या है और कैसे वो शहर-कस्बों की सीमा लांघती हुई जयपुर से दिल्ली तक भी पहुंच जाती है और यह भी देखें कि एक सही संकेत मिल जाये तो सारा विषय कैसे बदल जाता है? यहां जो लिखा गया है वह उस संपादकीय के लिखे जाने की पूर्व प्रक्रिया है जो लिखा नहीं गया। ❑

अगस्त, 2012

आखा जीवन शिक्षा के नाम

इस अंक को कुछ और ही होना था। संपादकीय भी लिखा जा चुका था। मगर हमारी नियति ही कुछ ऐसी थी कि कोई अप्रिय खबर मिलती और हम हठात् उसे स्वीकार लेने को विवश हो जाते। खबर थी कि—**अनिल भाई** नहीं रहे। हम **श्री अनिल बोर्दिया** को **अनिल** भाई कहते थे और अपने सहज स्नेहवश उन्होंने ऐसा अधिकार हमें दे दिया था। वे भाई थे, बड़े भाई, सगे-सरीखे बड़े भाई। कभी उन्होंने कोई दूरी नहीं रखी। व्यवहार में बड़े भाई के नाते सारे धर्म भी निभाये। हर संकट में साथ खड़े रहे। बहुत बार ढाल बन कर संकटों को पास आने से भी रोकते रहे। कोई कल्पना तक नहीं कर सकता कि वे कितने करीब थे। जिस किसी ने उनकी इस करीबी को देखा उसे विश्वास नहीं होता था कि वे सगे भाई नहीं थे। भ्रातृत्व क्या होता है और मैत्री क्या होती है—इसे वे अपने व्यवहार से जीवन भर सिखाते रहे। इसे मैं अपनी किस्मत ही कहूंगा कि उनकी ऐसी आत्मीयता को पाने का सौभाग्य मुझे मिला। मैं श्रद्धावनत हूं।

जो भी जब भी **श्री अनिल बोर्दिया** के सम्पर्क में आया उसने यही पाया कि वे सिर्फ और सिर्फ शिक्षा के मार्फत समाज की तस्वीर बदलने के प्रति आस्थावान है। शिक्षा में उनकी जबरदस्त आस्था थी। वे मानते थे कि शिक्षा की गुणवत्ता को बढ़ा कर, शिक्षा को बालकोन्मुखी और साथ ही शिक्षा को बाल-वत्सल बनाकर, लोकोन्मुखी बना कर समाज में एक नया जागरण लाया जा सकता है। वे जानते थे कि समाज जब तक अपनी जड़ता से मुक्ति नहीं पाता है तब तक किसी भी तरह के बदलाव की आशा करना ही व्यर्थ है।

वे बदलाव के लिये सामाजिक ढांचे के भीतर जुम्बिश पैदा करना चाहते थे। जुम्बिश बदलाव की ललक के लिये शरीर और समाज में पैदा हुई हरकत का नाम है। जुम्बिश उनका एक प्रिय शब्द था और यही वजह थी कि उन्होंने **लोक-जुम्बिश** नाम की एक व्यापक मुहिम प्रारम्भ कर दी थी।

यह मुहिम इस बात का परिचायक थी कि वे न केवल बालकों की सर्वोत्तम शिक्षा के प्रति आस्थावान थे बल्कि साथ ही वे लोक शिक्षा से लोक जागरण के प्रति भी उतने ही आस्थावान थे। समाज और व्यवस्था के सड़े-गले ढांचे को एक सुचिंतित शैक्षिक-दृष्टि से उखाड़ फेंकना उनका मूल लक्ष्य था। शिक्षा के प्रति ऐसे आस्थावान और इतने अप्रतिम ऊर्जावान व्यक्ति आखी दुनिया में ढूंढ़े से भी नहीं मिलेंगे। यह इस देश का सौभाग्य था कि वे भारत में थे और दुनिया ने उनको पहचानते हुए **'ऐविसेना'** जैसे सर्वोच्च सम्मान से नवाजा और फिर उनको यूनेस्को का **'महात्मा गांधी मैडल'** भी घर बैठे यूनेस्को के निदेशक आ कर दे गये। यह अलग बात है कि अनिल भाई **'पद्मभूषण'** थे मगर उनके साथ काम करने वाले जानते हैं कि किसी भी सम्मान का मुलम्मा उन पर नहीं चढ़ा था और वे सदा सर्वदा उतने ही लोक-वत्सल, सहज, सरल थे जितना किसी भी सच्चे लोक-सेवक को होना चाहिए।

शिक्षा के प्रति आस्थावान व्यक्ति शिक्षकों के प्रति भला कैसे आस्थावान नहीं होगा। वे जीवन भर शिक्षकों के प्रति एक आशावान नजर से देखते रहे और हर पल यह कोशिश करते रहे कि समाज में हर शिक्षक को विकास के पूरे अवसर मिलें। ऐसा वेतन मिले जिससे हर शिक्षक सम्मानजनक तरीके से समाज में जिंदा रह सके। आज शिक्षकों के वेतन में जो सम्मानजनक वृद्धि हुई है उसके पीछे अनिल बोर्दिया जी के योगदान को शास्त्री भवन भुला नहीं सकता। वे तब शास्त्री भवन में भारत सरकार के शिक्षा सचिव थे। उससे पहले अतिरिक्त शिक्षा सचिव और उससे पहले संयुक्त सचिव।

हर पद पर रहते हुए उन्होंने हर वर्ष एक नया इतिहास रचा था। **राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम** के वे प्रमुख शिल्पी थे। **राष्ट्रीय साक्षरता मिशन** के भी वे जनक थे। **राष्ट्रीय शिक्षा नीति** को बनाने और संसद से स्वीकृत कराने में भी उनका ही पूरा योगदान था। इस बीच कई तरह के व्यवधान भी आते रहे, संकट भी खड़े हुए मगर सारे संकटों को अपनी अद्‌भुत इच्छाशक्ति, विलक्षण मेधा एवं सम्पूर्ण प्रशासनिक योग्यता से वे दरकिनार करते रहे। पहले **कोठारी कमीशन** और फिर **राममूर्ति कमीशन** आदि सभी शिक्षा आयोगों में उन्होंने अपनी दृष्टि संपन्नता के साथ योगदान दिया। एक अद्‌भुत ऊर्जा और अदम्य आशा से वे सदा भरे रहते थे। हर संकट को टाल कर नया कुछ रच देते थे।

यहां-वहां, जहां-तहां उनके शैक्षिक योगदान के सबूत आज पूरे देश में पग-पग पर बिछे हैं। हजारों शिक्षाकर्मी उनके साथ की याद को अपने सजल

नेत्रों में एक गरिमामय मिसाल के रूप में संजोये हुए हैं। **राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति** के जनक भी वे ही थे और राजस्थान की अन्य कई संस्थाओं के प्रमुख शिल्पी भी वही थे। संस्था बना लेना एक अलग बात है मगर आखा जीवन हर संस्था को जिंदा रखने और ताजिंदगी उसको सींचते रहना एक विलक्षण बात है। हम सभी उनके इस योगदान के चश्मदीद गवाह हैं और आज एक शून्य में खड़े, अनाथ से बने उनको प्रणाम करते हैं। ❑

सितम्बर-अक्टूबर, 2012

वन्दे वाणी विनायकौ ।।

यह रामचरित मानस के पहले श्लोक का आखिरी जुमला है। **तुलसी वाणी** का वन्दन करते हैं। **विनायक** का वन्दन करते हैं। अपनी इस वन्दना में वे हम सबको भी अपने साथ ले लेते हैंऔर आज तक साथ लिये चल रहे हैं। **वाणी** का और **विनायक** का वन्दन किये बिना हमारा जीवन भी भला कैसे अर्थवान हो सकता है?

सोचने की बात है कि **वाणी** क्या है? **वाणी** का सच क्या है? तो आइए, हम **वाणी** के सच को तलाशते हैं। उसके सार की थाह पा लेने की एक कोशिश करते हैं। **वाणी** में उच्चारण है। उच्चारण में **स्फोट** हैअर्थात आवाज का प्रस्फुटन है। इसी **स्फोट** का **पाणिनी** ने भी वन्दन किया था। **पाणिनी** हमारी व्याकरण के पहले सर्जक थे। हम भी आज **तुलसी** और **पाणिनी** के साथ इसी स्फोट का वन्दन करते हैं। उस उच्चारण का वन्दन करते हैं जिसमें अक्षर है, अविनाशी अक्षर और उन्हीं अक्षरों के सहारे बने शब्द हैं और उन शब्दों में उनके शाश्वत अर्थ हैं। ये समझने की बात है कि शब्दों के अर्थ कभी बदलते नहीं। वे सदा बने रहते हैं। तुलसी इन्हीं अर्थों का वन्दन करते हैं। शब्द जिन वर्णों और स्वरों से बने हैं **तुलसी** उन्हीं अक्षरों का वन्दन करते हैं।

तुलसी के लिये अर्थ अर्थवान ही तब है जब उसमें रस है, उसमें छंद है, उसमें ध्वनि है, उसमें ताल है, उसमें लय है और उस लय में संगीत है। यह संगीत अपनी पूरी अर्थवत्ता के साथ सदा सबका मंगल करने वाला है। किसी का अमंगल इस संगीत अथवा इस **वाणी** से हो नहीं सकता। संगीत की रचना करने वाली और सदा सबका मंगल करने वाली इस **वाणी** का नाम सरस्वती है। यह सरस्वती विद्या की देवी मानी गयी है, संगीत की देवी मानी गयी है और सम्पूर्ण मानवीय समाज की शुचिता, स्वच्छता और उसकी निर्मलता की रचना करने वाली है। यही वजह है की सरस्वती सदा शुभ्रधवल वस्त्र पहनती है, हाथ में वीणा रखती है और इसी

वीणा से **वाणी** शब्द का सृजन हुआ लगता है। **वाणी** इसी लिये वन्दनीय है। तब भी थी और आज भी है।

आगे सोचते हैं तो पाते हैं कि **वाणी** सदा सत्य की वाहक है। **सत्य वाणी** के सहारे ही समाज में व्यक्त होता हैऔर हमारे कानों में ध्वनित होता है। **वाणी** की शक्ति यह है कि **सत्य** को केवल कानों तक सीमित नहीं रखती बल्कि हमारे हृदय पर उकेर देती है। ऐसे संप्रेषित करती है कि वह सत्य हमारे हर व्यवहार का हिस्सा बन जाता है। तब हम स्वयं अथवा हमारा सारा समाज **सत्य** का वाहक हो जाता है। सत्य तब मानवीय व्यवहार में पीढ़ी दर पीढ़ी आगे चलता है, सुरक्षित रहता है। यही वजह थी कि **तुलसी वाणी** की वन्दना करते थे और **नानक** व **कबीर** अपनी **वाणियों** में **सबद** की रचना कर जाते थे जो आज भी हमारा पथ प्रदर्शन कर रही है।

वाणी का सुख यह है कि उसमें मिठास होता है। मिठास में स्पर्श होता है। स्पर्श में स्निग्धता होती है। जो कभी न चुभे वही **वाणी** कहलाती है। **वाणी** में प्रेम होता है। **वाणी** में करुणा होती है। **वाणी** में सहानुभूति होती है। सहानुभूति मलहम का काम करती है। घावों को भरती है। इसीलिये **वाणी** सदा सुखदायी होती है। **वाणी** इसलिए भी सुखदायी होती है कि **वाणी** की कोई जाति नहीं होती। इसका कोई रंग नहीं होता।**वाणी** बिना किसी भेद भाव के सबके लिए सुखदायी होती है। सर्व-मंगला होती है। सदा वत्सला होती है।

वाणी का यह सुखदायी रूप उसे अहिंसक बनाये रखता है गैर-आक्रमकता **वाणी** का स्वभाव है। **वाणी** की यह गैर-आक्रामकता उसकी अभिव्यक्ति को ग्राह्य बनाती है। मन में उतारती है।

जिन वर्णाक्षरों एवं स्वरों के साथ **वाणी** की रचना होती थी और आज भी होती है। वे अक्षर भी सदा अविनाशी है। उनका नाम ही अक्षर इसलिये है कि उनका क्षरण नहीं होता। वे मरते नहीं। हम **वाणी** के साथ-साथ अक्षरों का वन्दन भी करते हैं और शब्दों का वन्दन भी करते हैं। शब्द और अक्षर दोनों ही सदा अर्थवान हैं। निरर्थक कभी नहीं।

तुलसी वाणी के साथ-साथ **विनायक** की वन्दना भी करते हैं। **विनायक गणेश** का नाम है। **गणेश वाणी** को पी लेने वाले और उसे पचा लेने वाले देव हैं। गणेश के प्रतीक की रचना करते हुए हमारे शास्त्रकारों ने जितने अर्थ उनके रूपाकार में समाहित कर दिये हैं वह हमारी एक अद्भुत निधि है। उसे थोड़ा सा भी समझ लें तो सहसा **गणेश** के प्रति एक सहज आदर पैदा होता है और मन-मस्तिष्क श्रद्धा से झुक जाता है।

प्रतीक को समझने की कोशिश करें तो गणेश के कान बड़े हैं। वे सबकी बात बहुत धैर्य से सुन सकते हैं और सदियों तक सुनते रह सकते हैं। ऐसे श्रोता हैं **गणेश** कि एक बार सुन लेने के बाद वापिस पूछते भी नहीं हैं। पूरा महाभारत **महामुनी वेदव्यास** से सुनकर कागज पर उतार लेने वाले **गणेश** मानवीय समाज में **साक्षरता के आदि-देव** हैं।

उनके कान बड़े हैं मगर साथ-साथ पेट भी बड़ा है जो कुछ सुनते हैं उसे पेट में रख लेने की पर्याप्त गुंजाइश है। जितना पेट में रख लिया है उसे वापिस बक डालने की गुंजाइश इसलिये नहीं है कि लम्बी सूंड से मुंह लगभग बंद है। सूंड लम्बी है तो सुनने के साथ-साथ सूंघ लेने और भांप लेने की क्षमता भी अद्भुत है। उनके जैसा अति संवेदनशील देवता न कोई दूसरा है और न होगा। **गणेश** रास्ते के विघ्न को हरण करने वाले हैं और सबको मंगल देने वाले हैं। दांत भी उनका एक टूट गया है तो जाहिर है कि वे अपने स्वभाव और स्वरूप में सर्वथा अहिंसक हैं। किसी का बुरा वे कर ही नहीं सकते। अपनी विशालकाय देह के बावजूद वे अपने स्नेह में सबको बांध लेने वाले हैं।

इतने भीमकाय शरीर को धारण करने वाला कोई व्यक्ति **मूशक** की सवारी करता हो यह सहसा समझ में नहीं आता। मगर जाहिर है कि इस विराट स्वरूप का लघुता के साथ भी अभिन्न रिश्ता है। यही वजह है कि **तुलसी विनायक** की वन्दना करते हैं। मूशक की सवारी के कारण विनायक का जमीन से सीधा रिश्ता है। **गणेश** कोई वायवी देवता नहीं हैं। हवा में नहीं उड़ते हैं। वे न केवल धरती की व्यथा—कथा जानते हैं बल्कि धरती की कोख तक से उनका सीधा रिश्ता है। वे सबके लिए मंगलदायी है।

लिखने का कौशल रखने वाले **गणेश** अकेले देव हैं। साक्षरता से सीधा रिश्ता रखने वाले। साथ ही आचार्य के सामने बैठ कर पूरा महाभारत लिखने वाले देव, हर लेखक के लिए प्रेरणादायी होंगे ही। यही वजह है कि तुलसी उनका वंदन करते है। तुलसी की इस वन्दना में हम आज भी उनके साथ हैं और रामचरित मानस का पहला श्लोक हमको और भी बहुत कुछ कहता रहता है :

वर्णानामार्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ।।1।।

❑

नवम्बर, 2012

अनौपचारिका के सैंतीस वर्ष

मेरा नाती **मेहुल** मुझसे पूछेगा—नाना, ये **सैंतीस** क्या होता है? मुझे विवश होकर बताना पड़ेगा **थर्टी सेवन** को **सैंतीस** कहते हैं। उसे समझ में आ जायेगा। यह एक पड़ाव है जहां हमने शिक्षा को लाकर खड़ा कर दिया है। और दूसरा पड़ाव विश्व के सबसे ताकतवर देश अमेरिका के एक स्कूल में नौनिहाल बालकों को गोलियों से भून देने की घटना है। तीसरा पड़ाव यह संपादकीय लिखे जाने से कुछ दिन पहले ही दिल्ली की बस में घटी घटना है। जिसका नामोल्लेख करने से सिर शर्म से झुक जाता है और पूरे राष्ट्र की शैक्षिक उपलब्धियों पर एक सवालिया निशान लग जाता है। मात्र शैक्षिक उपलब्धि पर ही नहीं बल्कि पूरे विश्व की उस तथाकथित सभ्यता पर भी सवालिया निशान लग जाता है जिसके गुमान में हम अब तक मरे जा रहे हैं। मालूम नहीं कौन कितना सभ्य हुआ है और कौन कहां पहुंचा है?

बात तो हम **सैंतीस** की कर रहे थे, यह **छत्तीस** का आंकड़ा कहां बीच में आ गया? यह दरअसल मन की वेदना है जो छिपाये नहीं छिपती।

फिलहाल कहना यही है कि **अनौपचारिका** ने अपने **सैंतीस** वर्ष पूरे कर लिये हैं। **जनवरी, 2013** से **अनौपचारिका** का **अड़तीसवां** वर्ष शुरू होगा और उस वर्ष से **अनौपचारिका** सचमुच **एक नये युग** में प्रवेश करेगी। तब सब कुछ तेरा होगा, मेरा कुछ नहीं। बड़ा सही वक्त आया है जब रुखसत की इजाजत चाहते हुए अब इस महाव्रत को पुनः **राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति** को सौंप कर मैं स्वयं अपने लिए कोई आकाश रचूं और उस आकाश में विचरण करते हुए ऐसा कोई सार्थक प्रयास करूं कि जो तेरा है उसको तुझे अर्पित कर अपने मेरे को पा सकूं!

मैं बहुत आभारी हूं **अनौपचारिका** के पाठकों का, उन पाठकों का जिन्होंने अनन्त प्यार दिया है और इस पत्रिका को अपना बनाकर आंखों पर बिठा लिया है। एक पाठक है—**डॉ. प्रतिभा**। पेशे से गायनाकोलॉजिस्ट हैं। मगर कुदरत से प्यार करती हैं। नये विचारों में अवगाहन का उनका अद्भुत

व्यसन है। **अनौपचारिका** पर एक हल्का सा संकट आया तो उन्होंने बिना कुछ कहे **दस हजार रुपये** का ड्राफ्ट तुरन्त भिजवा दिया। दूसरी तरफ **वर्षादास हैं** जो दूर बैठी हुई संकट को भांप लेती हैं और वक्त पड़ते ही दस हजार रुपया भेज देती हैं। एक और पाठक हैं दिल्ली में। उनसे परिचय केवल **अनौपचारिका** की पाठक के रूप में हुआ है और बाद में ऐसी डोर बंध गयी कि वे मुझे अस्पताल देखने आने की जिद कर बैठती हैं। लगभग वर्ष भर पहले जब मैं दिल्ली में एस्कोर्ट्स में भर्ती था तब हर सवेरे साढ़े छह बजे उनका फोन आता था कि मैं आ रही हूं। मुझे बहुत आग्रह से मना करना पड़ता था कि आप मत आइये। उन्होंने लगभग अस्सी बरस लिये हैं। उनका नाम है **राज बुद्धिराजा**। **अनौपचारिका** के कथ्य से प्रभावित होकर वे जयपुर आकर हमें **इकत्तीस हजार रुपया** दे गयीं। हम न केवल श्रद्धावनत हैं बल्कि चकित-विस्मित भी। शायद ही किसी हिन्दी पत्रिका को पाठकों का ऐसा प्यार मिला हो।

बात केवल पैसे की नहीं है—प्रेम की है। ऐसा हर माह होता रहा है कि अंक मिलते ही सुधी पाठक सबसे पहले इसका संपादकीय पढ़कर फोन करते रहे हैं, एसएमएस और ई-मेल करते हैं साथ ही पत्र भी लिखते हैं। अनौपचारिका दरअसल अब एक सार्थक शैक्षिक संवाद की पत्रिका बन चुकी है।

अनौपचारिका को पढ़ते हुए हमें कई नये लेखक मित्र मिले हैं। भाई **प्रेमपाल शर्मा** उनमें से एक हैं जो दिल्ली के रेल मंत्रालय में बैठकर **अनौपचारिका** के लिये न केवल लिखते हैं बल्कि हर संभव सहयोग भी करते हैं। बम्बई में बैठे **विश्वनाथ सचदेव** जो **नवनीत** के संपादक हैं वे **अनौपचारिका** के कई अंकों में से कई लेख **नवनीत** में प्रकाशित कर चुके हैं। उनके सहयोग से और भावनात्मक संबल से हमें भी निरन्तर ऊर्जा मिलती रही है। हापुड़ में **अनौपचारिका** के मित्र परिवार में **डॉ. अशोक मैत्रेय** और **धर्मपाल अकेला** जैसे लेखक हैं जो न केवल लेखकीय सहयोग देते हैं बल्कि अपने प्रेमभाव से हमें सींचते हैं।

सैंतीस वर्षों की इस अवधि में मैं स्वयं बीच में पांच वर्ष तक **अनौपचारिका** से दूर रहा। पत्रिका की शुरुआत केवल चार पेज के एक बुलेटिन के रूप में हुई थी। तब यह **राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति** का **मासिक मुखपत्र** मात्र था। उन दिनों अनौपचारिक शिक्षा का बोल बाला था। इसका नामकरण **भाई साहब शिवरतन थानवी** ने किया था। इसके प्रकाशन

के आरम्भ होने के तुरन्त बाद **राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा** कार्यक्रम शुरू हुआ और तब यह प्रौढ़ शिक्षा के राष्ट्रव्यापी आंदोलन की पत्रिका बन गयी। तब भी इसे पाठकों का बहुत प्रेम मिला और भारत सरकार के शिक्षा एवं संस्कृति मंत्रालय के वरिष्ठ अधिकारियों का भरपूर सहयोग मिला। देश के ख्यातनाम प्रौढ़ शिक्षाविदों एवं शिक्षाशास्त्रियों का भी हमें भरपूर प्रेम मिला। आज सिर्फ स्मृति मात्र रह गयी है और उनका नाम लेते हुए भी आंखें नम हो जाती हैं क्योंकि उनमें से अब कोई नहीं रहा। बंगाल के **भाई सत्येन मैत्रा** न केवल **अनौपचारिका** के रूप रंग से विमुग्ध थे बल्कि वे कई बार इसके कथ्य का बांग्ला तर्जुमा अपने साथियों से सुना करते थे। मुझसे भी उन्होंने इसके संपादकीय सुने क्योंकि वे हिन्दी ठीक से नहीं पढ़ सकते थे। सत्येन दा के अलावा **भाई मुश्ताक अहमद, गुजरात के चुन्नीभाई भट्ट, वयोवृद्ध शिक्षाविद् जे.पी.नायक** आदि कई लोग थे जिनका प्रेम मिला और शुभाशीष भी।

राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के बाद राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का गठन हुआ और तब साक्षरता के व्यापक प्रचार-प्रसार में सहभागी बनने के लिये **अनौपचारिका** साक्षरता की पत्रिका हो गयी, फिर उत्तर साक्षरता की और फिर सतत शिक्षा की। इस प्रकार जाने कितने रूपों में यह पत्रिका प्रकाशित होती रही। 1998 के अक्टूबर माह से यह पत्रिका नये आकार-प्रकार में नयी साज-सज्जा के साथ **समकालीन शिक्षा चिंतन** की एक पत्रिका बनी। तब से अब तक शिक्षा चिंतन को पाठ्य पुस्तकीय भाषा से बहुत दूर सरल और सुग्राह्य भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयत्न मात्र करती रही है। पाठकों की प्रतिक्रियाओं से ही यह जाहिर हुआ है कि हम अपने प्रयास में काफी सफल रहे हैं।

इस पत्रिका के सिर माथे पर **अनिल बोर्दिया** का वरदहस्त सदा बना रहा। वे हर अंक पर अपनी टीप देते थे—पीठ थपथपाते थे और सदा नये उत्साह व नयी ऊर्जा से भर देते थे। आज वे भी नहीं रहे। इस निपट शून्य में मैं अकेला कैसी अंत:वेदना में धंसा हूं इसका उल्लेख मात्र कष्ट कर है।

इस बीच मेरा शरीर बहुत क्षीण हो चला है। किसी भी प्रकार की व्यग्रता रक्तचाप बढ़ा देती है और साथ ही शुगर लेवल भी बढ़ता घटता है। ऐसी स्थिति में अपने को मिले अपार प्यार के बावजूद मैं पाठकों से क्षमापूर्वक रुखसत चाहता हूं। मेरे लिए संपादन के सारे वर्ष बहुत शिक्षादायी रहे हैं। हर अंक के प्रकाशन में मैंने कुछ सीखा है, पाया है। हर अंक का संपादन एक

शोध का अवसर देता रहा है। संपादन कितना शिक्षादायी व सुखदायी होता है इसका खरा अनुभव मैंने किया है।

सैंत्तीस वर्ष के इस सुखद अनुभव के बाद मैं सभी लेखकों, पाठकों, मित्रों एवं **राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति** के सभी सदस्यों एवं सहकर्मियों के प्रति अपना आभार प्रकट करते हुए अब विदा लेता हूं।

❑

दिसम्बर, 2012

हमारे स्वाध्याय के तीन-क्षेत्र

देखते-देखते कैलेण्डर के पन्ने उड़ते-बदलते रहते हैं। समय हमारे हाथ से सरक-सरक कर जैसे विलुप्त होता रहता है। जो पल गया है वह फिर नहीं आयेगा। जो आया है वह नया है और नये सिरे से हमें नया कुछ करने को प्रेरित करता है। जो काम अधूरे रहे उनको पूरा करने का संकल्प भी जगाता है। मगर हर नया पल हमें नव-जन्म का अहसास देता है। बुद्ध ने कहा था कि—इस जगत में और हमारी अपनी काया में उत्पाद और व्यय निरन्तर चलता रहता है—पल प्रतिपल। जो क्षय हुआ वह वापिस नहीं आता है, मगर जो उत्पन्न हुआ उसका फिर क्षय हो जाना सुनिश्चित है। समय का भी यही क्रम है। शास्त्रों ने इसे कालचक्र की संज्ञा दी है। जगद्गुरु शंकराचार्य ने इसे पुनरपि जननम, पुनरपि मरणम के क्रम में देखा है। एक यात्रा है जिसके हम सब यात्री हैं। एक प्रवाह है जिसमें हम सब बह रहे हैं। गतिशील है सब कुछ माना मगर फिर भी एक प्रेरणा है जो रचने को और नवसृजन को आमंत्रित करती है। हर नया पल कुछ कर गुजरने की दस्तक देता हुआ आता है हमारे सामने यह चुनौती है कि हम हर नये पल में कैसे और कितने संकल्प के साथ उठ खड़े होते हैं। हमारा हार्दिक अभिनन्दन और शुभेच्छा यह है कि हर पाठक नव वर्ष में नव संकल्प के साथ जागे और पुरानी बेड़ियों के बंधन से मुक्त होकर फिर एक नया कदम आगे बढ़ाये। नव सृजन और नव जागरण हमारा संकल्प हो यही कामना है।

सोचना यह है कि हम क्या करें? सोचना यह भी है कि हम कौन हैं और हम कहां हैं? आशय यह है कि अपने को जानें, खुद को पहचानें और अपने परिवेश की पूरी समझ बना कर नया कुछ करने का संकल्प करें। अपने को जानने और परिवेश को समझने के लिए स्वाध्याय जरूरी है, विचार जरूरी है, मनन जरूरी है।

बिलकुल प्राथमिक स्तर पर सोचें तो कहना यह होगा कि हम अपनी आंख खुली रखें और जी भर के कुदरत के हर करिश्मे को देखें और

आत्मसात करें। कुदरत ने जो कुछ रचा है उसमें अपार सौंदर्य है और जो कुछ है वह लबालब है। वहां अल्लाह मियां ने कोई कोताही नहीं की है। गिन-गिन करके कुछ भी नहीं दिया है। सब कुछ अनगिनित है। सब कुछ असंख्य है। तारे भी और सितारे भी। फूल भी और पत्ते भी। तितलियां भी और मधुमक्खियां भी। रस भी है, रूप भी है, सुवास भी है और संगीत भी है। सब कुछ सुर में। बेसुरा कुछ भी नहीं। इसे अगर हम आंख खोल कर मन में भर लें, पी लें तो कैसा लगेगा? अचम्भा जरूर होगा कि कुदरत की कैसी लीला है, मगर अपने परिवेश की हर रचना हमको सुख देती है, प्रेरणा देती है। सौंदर्य और संगीत के करीब ले जाकर उसी तर्ज में नया कुछ करने का संकल्प जगाती है। नव वर्ष में अनौपचारिका के हर पाठक के मन में ऐसा संकल्प जगे यही हमारी प्रार्थना है।

हमने ऊपर स्वाध्याय का जिक्र किया है। उपनिषद् कहता है कि स्वाध्याय का आलस हमें कभी नहीं करना चाहिए-स्वाध्यायान्मा प्रमदः। अब हमें नव वर्ष में तय यह करना है कि हम नया क्या कुछ पढ़ेंगे? कुदरत के कितने करीब जायेंगे और उससे कितना कुछ सीखेंगे। किस विध अपने आप को कुदरत से आप्लावित करेंगेऔर कैसे कुदरत के हर सौन्दर्य को आत्मसात् करेंगे। ऐसा करना हमारे अध्ययन का पहला क्षेत्र या पहला पाठ होना चाहिये।

दूसरा क्षेत्र है अपने देश और विदेश में होने वाले सृजन का अध्ययन। कहां क्या रचा जा रहा है, और किस रचना में कितना सौन्दर्य और प्रेरक सुख छिपा है यह हमें जान लेना है। हमें सजग रहते हुए देख लेना है कि कौन चित्रकार कहां कैसा चित्र बना रहा है, कौन संगीतकार इन दिनों कैसे गा रहा है या बजा रहा है। अपने परिवेश में बहती सुर लहरियों को हमें कान देना है और आत्मसात् करना है। कौन लेखक क्या लिख रहा हैउसे भी पढ़ना है और उसके साथ मनन करना है।

स्वाध्याय का तीसरा क्षेत्र अपने परिवेश की जागतिक सच्चाई को समझना भी है। आंख खोल कर देखना है कि हमारे गली-मौहल्ले में, हमारे शहर की कच्ची बस्तियों में कहां किस तरह से जीवन सरक-सरक कर चल रहा है और लोग तिल-तिल कर लगभग दर्द से कराहते हुए और पीड़ा में तिलमिलाते हुए मर रहे हैं। लगभग हर शहर की सच्चाई यह है कि अस्पताल गरीबों के लिए नहीं है। रंग-बिरंगे स्कूल बच्चों को लगभग चिढ़ाते हुए अपनी लकदक इमारतों में आबाद हैं। हमें जानना यह है कि उन बच्चों तक शिक्षा

कैसे पहुंचेगी? जिन्हें दो वक्त की रोटी नसीब नहीं हैं और दूध का स्वाद पता नहीं है। हमें यह भी जानना है कि रोटी कब, किस तरह सबका अधिकार बनेगी। सबके लिए सुलभ होगी। हमारी शुभेच्छा यह है कि नव वर्ष हमको परदुख-कातर बनाता हुआ हमारे स्वाध्याय के इन तीनों क्षेत्रों को जानने समझने का अवसर दे और नया संकल्प दे कि हम नया कुछ कर सकें। ❑

जनवरी, 2011

बसंत के रंग, शिक्षा के संग

रंगों के उत्सव का मौसम आ गया है। हर तरफ रंग-रंगीले फूलों की छटा बिखरी दीखती है। इस छटा में रंगों का एवं रूपाकारों का मेला भी है और सुगंध का आनन्द भी। लगता है कि लोकवत्सल प्रकृति अपनी सुगंध से सबके पुष्टिवर्धन का उत्सव मना रही है। यह उत्सव सब जगह फैला है—बाग-बगीचों में, घर-आंगन में और वन-प्रांतर में भी। इस उत्सव का एक सहज प्रभाव अपेक्षित भी है। मन में अपेक्षा जागती है कि आस-पास की हर गतिविधि इस उत्सव में भाग ले और खुद में नये रंग भर ले। हम जो शिक्षा से जुड़े लोग हैं उनके मन में ऐसी अपेक्षा का जगना सहज एवं स्वाभाविक भी है कि बासंती बयार का प्रभाव शिक्षा पर भी पड़े और शिक्षा संस्थानों पर भी। प्रभाव और बदलाव की इस अपेक्षा के साथ मन में प्रश्न जागता है कि हमारी शिक्षा का प्रकृति के साथ संबंध है क्या? हमारा सबका भी कुदरत के साथ क्या रिश्ता है?

थोड़ा सा सोचें तो पायेंगे कि कुदरत केवल फूल-पत्तों की छटा मात्र नहीं है, रूप-रंगों का उत्सव मात्र नहीं है। सुवास और सुगंध का मन-मोहक एवं मन-भावन उपक्रम मात्र नहीं है। वहां रूपों और रंगों के साथ प्राणों को प्रतिपल स्पंदित करने वाली ऊर्जा है। विचार हमें यह करना है कि हम कैसे कुदरत से ऊर्जा ग्रहण करके अपने को और अपने संस्थानों को पुन: प्राणवान बनायें? मत पूछिये कि अभी आज की तारीख में हमारे शिक्षा-संस्थान कितने प्राणवान हैं? कितने जीवंत? आज की शिक्षा भी प्राणविहीन है। कुदरत से कटी हुई। ऐसी स्थिति में एक मात्र ऊर्जास्रोत कुदरत ही है।

कुदरत का यदि जीवन के साथ गहरा संबंध है तो शिक्षा के साथ भी है। शिक्षा भला अपने को प्रकृति से दूर कैसे रख सकती है? लेकिन आज का सच यही है कि शिक्षा या तो अंधेरे बंद कमरों में हो रही है या फिर किसी दिलघोंटू वातावरण में। कहने को तो सब कुछ वातानुकूलित है, मगर मनोनुकूल कुछ भी नहीं है। जो भी वहां शिक्षा पा रहा है वह अपना मन

मसोस कर सब कुछ गले उतार लेने को अभिशप्त है। उसके सामने चुनने की कोई आजादी नहीं है। बोलने की भी कोई आजादी नहीं है और प्रश्न करने का भी कोई अवसर नहीं है। यहां जिज्ञासा को जगाने का न तो कोई साधन सुलभ है और न ही जिज्ञासा को जिन्दा रखने का कोई प्रयास ही। जिज्ञासा-विरोधी और जिज्ञासा-विहीन वातावरण में घटित होती हमारी आज की शिक्षा के लिए प्रमुदित और प्रफुल्लित होने के सारे अवसर अवरुद्ध हो गये दीखते हैं। ऐसी स्थिति में हर बसंत एक आशा लेकर आता है और एक अवसर की तरह सामने खड़ा हो जाता है।

हमें सोचना यह है कि हम स्वयं नये रंगों में रंगने को और नये-नये रूप धरने को कितने तैयार हैं? **शिक्षा का काम है कि वह सर्जक बन कर रूपाकारों की रचना में भागीदार बन जाये। इन रूपाकारों में नये रंग भर दे और फिर नये प्राणों से इनको स्पंदित कर दे। यह सच है कि शिक्षा कुदरत की अग्रवाहक नहीं बन सकती, मगर सहधर्मी और सहकर्मी अवश्य बन सकती है। सच यह भी है कि शिक्षा का नीरस हो जाना, बदरंग हो जाना और अरूप या कुरूप हो जाना एक सभ्यता के मृत हो जाने का परिचायक है। आज ऐसा हो भी गया है और इसकी कीमत पूरी इंसानियत चुका रही है। एक विद्वान चिंतक ने आज के जमाने की एक सर्व-व्यापी बीमारी को नया नाम दिया है—नेचर-डेफिसियंसी-सिंड्रोम (एन.डी.एस.)। हम सभी इस बीमारी के मरीज हैं। उपचार मगर यह है कि हम कुदरत के करीब बैठें और उससे अनुप्राणित होकर अपने को पुनर्जीवित करें।**

रूपाकारों की रचना करने वाली और उसमें रंग एवं सुवास भरने वाली शिक्षा को पहले अपने अंत:करण में झांकना होगा। वहां बैठ कर सबसे पहले अपने सौन्दर्य-बोध को निखारना होगा। यह पूछना एवं जानना होगा कि शिक्षा का सौन्दर्य-बोध कितना जाग्रत है और कितना मृतप्राय: है? ईश्वर यदि सारी सृष्टि की रचना करता है और यदि हम ईश्वर में विश्वास करते हैं तो हमें यह मानना होगा कि उसके सौन्दर्य-बोध की महिमा अपरम्पार है। यदि ईश्वर को नहीं भी मानते हैं तो कुदरत के करिश्मे को देखकर और उसकी छटा का अहसास कर हम इसके सर्जक की सौन्दर्य-दृष्टि की सहज कल्पना कर सकते हैं। **क्या हमारी वर्तमान शिक्षा व्यवस्था अथवा शिक्षा की अन्तरवस्तु में ऐसा कोई सौन्दर्य-बोध शेष रह गया है?**

एक तरफ सौन्दर्य के बोध की आवश्यकता है और दूसरी तरफ सौन्दर्य का अहसास करने के लिए संवेदनाओं को सुरक्षित रखने की आवश्यकता है।

यदि हमारा मन मस्तिष्क सौन्दर्य के प्रति संवेदनशील नहीं है तो हमारे लिए रूप-अरूप अथवा कुरूपता में कोई भेद नहीं बचा रहता है। शिक्षा की पहली जरूरत यह है कि वह ऐसी संवेदनाओं का पोषण करे जो सौन्दर्य का अहसास जगा सकती हो और मानवीय सभ्यता को नया सौन्दर्य-बोध भी दे सकती हो। आओ, हम विचारें कि इस नयी बासंती बयार के साथ हम ऐसा कुछ कर सकते हैं क्या? ❑

फरवरी, 2011

एक सर्जक का साथ

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति का सौभाग्य रहा है कि हिन्दी के कई बड़े साहित्यकार इसे अपनी संगत से उपकृत करते रहे हैं। अज्ञेयजी की स्नेहाशिष हमको बार-बार मिली है। बहुत उदारता के साथ और बड़े सहज रूप में। हमारे साथ उनके कभी औपचारिक संबंध नहीं रहे हैं। वे सदा अपनी पूरी आत्मीयता के साथ हमसे जुड़े रहे और अपने स्नेह और साथ से हमारा मार्ग-दर्शन करते रहे।

वत्सल निधि के साथ राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति ने दूसरा वत्सल निधि शिविर आबू में आयोजित किया था। इस शिविर का उद्घाटन करने महाराष्ट्र से दुर्गा भागवत आयीं थीं। दुर्गा ताई आयीं तो एक दिन के लिए ही थी मगर सभी साहित्यकारों का जमावड़ा वहां देखकर लोभ संवरण नहीं कर सकीं और पूरे समय हमारे साथ रहीं। इस शिविर में गुजरात से रघुवीर चौधरी, दिल्ली से सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, इलाहाबाद से विजय देव नारायण साही आदि कई वरिष्ठ साहित्यकार शिविर में उपस्थित थे। समिति के लिए राजस्थान के लेखकों को साथ लेकर आयोजित किया जाना वाला यह पहला राष्ट्रीय रचनात्मक शिविर था। सभी लोगों को एक नयी दृष्टि देने वाला और पल-पल सींच देने वाला। वात्स्यायनजी एवं इला जी पूरे शिविर में सबके साथ रहे। शिविर का मूल विषय था—साहित्य का परिवेश। इस शिविर की बहुत शीघ्र ही नेशनल पब्लिशिंग हाउस से एक पुस्तक प्रकाशित हुई। नाम यही था—साहित्य का परिवेश।

एक और अवसर था जब वात्स्यायनजी केवल अनौपचारिका के स्वरूप और इसके कथ्य एवं इसकी भाषा और रूप-सज्जा पर बात करने के लिए पूरे दिन भर के लिए समिति में आये थे। उस दिन वात्स्यायनजी बहुत फुर्सत में थे और काफी इत्मीनान के साथ दिन भर हमारे साथ इस पत्रिका के नाना रूपों और नाना संभावनाओं पर बात करते रहे। साथ में नन्दकिशोर आचार्य भी थे और समिति के अन्य सदस्य भी। आज भी उस एक दिवसीय बैठक

का स्मरण कर हम अपने को बार-बार रचते हैं और हर बार अनौपचारिका में नया कुछ जोड़कर आगे बढ़ने की कोशिश करते रहते हैं।

एक और भी अवसर था जब वात्स्यायनजी समिति के बुलावे पर समिति द्वारा प्रकाशित पुस्तक **जय कैलाश-जय मानसरोवर** का लोकार्पण करने आये थे। इस समारोह में डॉ. छगन मोहता भी उपस्थित थे। पाठक जानते हैं कि वात्स्यायनजी हिन्दी में यात्रा-संस्मरण लिखने वाले एक अनूठे सर्जक थे। जय कैलाश-जय मानसरोवर भी यात्रा-संस्मरण ही था। इसे जयपुर के एक नौजवान पत्रकार महेश शर्मा ने लिखा था। डॉ. छगन मोहता और वात्स्यायनजी के संयुक्त आशीर्वाद से समिति ने इस पुस्तक को लोकार्पित किया था।

दूसरे भी कई अवसर आते रहे जब वे यदा-कदा समिति आ जाया करते थे। जब भी जयपुर में होते थे तब ही। कभी उनसे भाषा पर बात होती थी तो कभी भाषा की रचनात्मकता पर। समिति द्वारा बोलियों में बनायी गयी प्रौढ़ शिक्षा की प्रवेशिका को उन्होंने सराहा था और संत साहित्य में अवगाहन के हमारे प्रयासों को भी। उनका थोड़ी सी देर के लिए भी समिति में आना हमें नयी ऊर्जा देता था और हमारे संकल्प को और उत्साह को दुगुना कर देता था। यह उनके स्नेह की आभा थी जो हमें आलोकित कर जाती थी और फिर हम नया कुछ करने को खड़े हो जाते थे। ऐसा संसर्ग किसी भी संस्था की जीवन्तता को बनाये रखने के लिये जरूरी है-इसे हमने बार-बार महसूस किया था।

हमने महसूस किया था कि शिक्षा को सर्जक की संगत करनी चाहिये। चिंतक का साथ चुनना चाहिए, तभी हम चिंतन और सृजन के विज्ञान की कोई कुंजी पा सकते हैं। वात्स्यायन जी मूलतया चिंतक थे। ऋषि थे। उनकी संगत चिंतन और अन्वेषण की संगत थी। नयी राह के अन्वेषण की संगत। वे स्वयं राहों के अन्वेषी रहे। सदा सर्वदा।

आज हमारे पास केवल स्मृतियां हैं जिनमें प्यार है, दुलार है, भावी जीवन के लिये कुछ रचनात्मक संकेत हैं। भावनाओं को व्यक्त करने के लिए अत्यन्त उपयुक्त और प्रासंगिक शब्द एवं वाक्य विन्यास भी हमें उनसे ही मिले और मिला वाणी का मिठास। ऐसा बहुत कुछ हम उनसे सीखते रहे। सम्भवत: उसी ऊर्जा के सहारे हम अभी तक कुछ कर पा रहे हैं और आगे भी कुछ करते रहेंगे ऐसा विश्वास है। मन केवल श्रद्धावनत है उस ऋषि के प्रति, मनीषि के प्रति, रचनारत साहित्यकार के प्रति और एक अत्यन्त

दृष्टिसंपन्न भाई के प्रति। ऋषि ऋण को उतारने का दंभ तो भला हम कैसे भरें? यह तो कभी न चुकाई जा सकने वाली थाती है। हमारे पास एक गरिमामय और स्नेहिल साथ का जीता-जागता ऐसा इतिवृत्त है जो गूंगे के गुड़ के समान ही आनन्ददायी है।

सभी लोक कथाओं की तरह हमारे मन में भी आज सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ यही भाव जागता है कि वात्स्यायनजी के जैसे साथ का सुअवसर हमको मिला है ऐसा सबको मिले और सभी नये-नये सृजनशील लोगों के साथ से लाभान्वित होते रहें। ❑

मार्च-अप्रेल, 2011

आंगन से आकाश की ओर

किशोरियां चाहे गांव की हों अथवा शहर की, सबके मन में कुछ अरमान छिपे रहते हैं। हर किशोरी अपने कल के कैनवास पर मन ही मन कुछ रंग भरती रहती है। मगर बहुत ही रोचक बात है कि हर किशोरी हर पल पूरी तरह से सहमी हुई रहती है। डरी हुई रहती है। कुछ भी बोलते हुए झिझकती है। ज्यादातर तो ऐसा ही होता है कि बोलना चाहते हुए भी बोल नहीं पाती है।

इसके विपरीत दूसरा सच यह है कि हर किशोरी के मन में एक किलक प्रतिपल पलती रहती है। एक पुलक खिल जाने को आतुर रहती है। एक उमंग उसे उड़ा ले जाना चाहती है। मगर हर दिन, हर पल उसे ऐसा लगता है कि उसके पांव बंधे हैं, उसकी वाणी अवरुद्ध हो गयी है और उसके मुंह पर जैसे किसी ने ताला जड़ दिया है। पांवों में बेड़ियों और जबान पर ताले का अनुभव करते हुए अधिसंख्य किशोरियां मन ही मन कुढ़ती रहती है, घुटती रहती है। यह घुटन उनके मन को कुंद करती है और उनकी उमंग को उदासी में बदल देती है।

हमें जानना यह है कि किशोरियां ऐसा क्यों अनुभव करती हैं? क्या हम स्वयं इसके लिए जिम्मेदार नहीं हैं? क्या माता-पिता अथवा तमाम अभिभावक इसके लिए जिम्मेदार नहीं हैं? क्या हमारी शालाएं और हमारे अध्यापक इसके लिए जिम्मेदार नहीं हैं? बड़ा प्रश्न तो यह है कि क्या हम इन तमाम सवालों से रू-ब-रू होना भी चाहते हैं या नहीं? होता तो यह रहा है कि हम इन तमाम सवालों का सामना न करते हुए किसी तरह से बच निकलना चाहते हैं और इनसे कन्नी काट कर अपने रोज के ढर्रे में ही जीते रहना चाहते हैं। सच तो यह है कि घर की बेटियां यदि उदास हैं तो हमारा जीवन भी व्यर्थ है। घर में पलने वाली किलक और पुलक यदि हमारे ही किसी आततायी स्वभाव के कारण डरी हुई और दबी हुई है तो यह हमारे लिए लानत का विषय है। शर्म की बात है।

राजस्थान में और देश में अन्यत्र भी किशोरियों की शिक्षा के कुछ प्रयोग हुए हैं। इन प्रयोगों में ग्रामीण किशोरियों को घरों से बाहर लाकर किसी एक स्थान पर शिविर के वातावरण में रखा गया है। इन शिविरों में आकर किशोरियों ने नया और खुला वातावरण पाया है। पहली बार अपने साथ सखी की तरह बात करने वाली किसी टीचर बहनजी को पाया है। उन्होंने पहली बार रहने का ऐसा कोई स्थान पाया है जहां कोई रोक-टोक नहीं है। जहां जात-पांत का कोई भेदभाव नहीं है। जहां सभी बच्चे और अध्यापक एक ही घड़े से पानी पी सकते हैं और बिना किसी की जात पूछे एक थाली में भोजन कर सकते हैंऔर एक ही कक्षा में बराबर बैठ कर कुछ सीख सकते हैं। देश की हर बच्ची के लिए यह लगभग एक अनपेक्षित अनुभव होता है। सर्वथा अविश्वसनीय।

शिक्षा के शिविरों के आंतरिक वातावरण का तब तक कोई अंदाज नहीं लगा सकता है जब तक वह खुद वहां जाकर उसे देख न लेऔर उसका अनुभव न कर ले। यह वातावरण किशोरियों के लिए अविश्वसनीय इसलिए भी होता है कि वे सब हमारी स्कूलों के वातावरण और हमारे अध्यापकों के व्यवहार का अनुभव कर चुकी होती हैं। दर्दनाक सच्चाई यह है कि स्कूलें आज भी नहीं बदली हैं। वहां जाना आज भी किशोरी अथवा बच्ची को अच्छा नहीं लगता है। आज भी अधिसंख्य ग्रामीण स्कूलों में अध्यापिकाओं की नियुक्ति नहीं होती हैऔर वहां पढ़ने वाली बच्चियां अपने को अकेला पाती हैं। उनकी सीधी विवशता होती है कि वे वहां से बाहर निकल आयें। कभी वे स्वयं निकल आती हैं, तो कभी माता-पिता निकाल लाते हैं। बहुत बार ऐसा भी होता है कि हमारे अध्यापकों का व्यवहार उनको मजबूर करता है कि वे स्कूल छोड़ दें। यह तथ्य दुखदायी है मगर सच है।

स्कूलों के ऐसे अनुभव के बाद, शिविरों में जाने वाली किशोरियां जो अनुभव करती हैं वह अनुभव सर्वथा आल्हादकारी होता है। आनंददायी होता है। सच यह है कि शिविरों से कोई भी किशोरी घर जाना ही नहीं चाहती है। छः महीनों में पांचवीं तक की पढ़ाई कर लेना उनके सुखदायी प्रवास की तुलना में खासा बेमानी होता है। उनकी जिन्दगी का एक विलक्षण अनुभव उनको इन शिविरों में मिलता है।

ये शिविर उनको नया विश्वास देते हैं, नयी वाणी देते हैं। उनके मन में पल रही उमंग को नये पंख मिल जाते हैं और उनके सपने को नये रंग मिल जाते हैं। किशोरियां इन रंगों में रंग कर सहसा वाचाल हो उठती हैं। नयी भाषा

और नयी वाणी पा कर ये किशोरियां जो बोलती हैं उन पर भी हमें खासा गौर करना चाहिए। हमें सोचना चाहिये कि किशोरियों को जो नया आकाश मिला है और उस आकाश में जो उन्मुक्तता मिली है और उन्मुक्तता से किशोरियों को जो नयी विचार शक्ति मिली है उसे हम कैसे ग्रहण करना चाहते हैं? हमें देखना यह है कि किशोरियां हमसे क्या कह रही हैं? और अब इतने खुले संदेश के बाद हम अपने को बदलने को कितने तैयार हैं? □

मई, 2011

उस सभा में न कोई वृद्धजन था और न कोई सत्यवादी

यह भारत देश की सर्वोच्च सभा थी। सबसे ऊंची सभा। इस सभा में केवल चुने हुए लोग बैठते हैं और उनके साथ बैठते हैं वे लोग जिन्हें देश का राष्ट्रपति मनोनीत करता है। अभी बहुत बरस नहीं हुए हैं। कल की ही बात लगती है। यह सभा चल रही थी। इस सभा में एक वयोवृद्ध सदस्य बोल रहा था। कह रहा था—

श्रीमन्

"वह सभा सभा नहीं होती है जहां वृद्धजन नहीं होते हैं।

और वे वृद्धजन वृद्धजन नहीं होते हैं जो सच नहीं बोलते हैं।

सच भी वह सच नहीं होता जो किसी छल के मुलम्मे के साथ प्रस्तुत किया जाता है।"

यही बात हजारों बरस पहले इसी देश की एक और भी बड़ी सभा में कही गयी थी। तब भी यह उतनी ही सटीक थी और आज भी उतनी ही सटीक है। तब भी यह बात सुनकर सारी सभा अवाक् थी और आज भी इस सभा के सभी सभासद सकते में आये हुए चुपचाप यह बात सुन रहे थे। कहना वे भी कुछ चाहते थे मगर कह सकने वाला वृद्धजन एक ही था। भारत का एक मनस्वी एवं तपस्वी कवि।

जिस कवि ने ऐसा कहने का साहस किया था उसके लिए ऐसा सत्यवदन बहुत सहज था। पूरी सरलता एवं विरलता के साथ यह कह गया था। यह सरलता उसे तपस्या से और साधना से मिली थी। तपस्या **गांधी-बापू** के चरणों में दीक्षा पाकर, भारतीय लोकजीवन का स्नान करते हुए सम्पन्न हुई थी और साधना भारत की भिन्न-भिन्न जेलों में एकान्तवास करते हुए, चरखा कातते हुए तथा मौन साधना करते हुए सम्पन्न हुई थी। इन्हीं जेलों

में जो आध्यात्मिक अनुभव हुए उन्होंने कवि की मेधा को तराशा था और शब्दब्रह्म के साथ सीधा साक्षात्कार कराया था। एक तरफ शब्द की साधना थी और दूसरी तरफ लोकजीवन की सेवा। लक्ष्य था देश की आजादी मगर उससे भी बड़ा लक्ष्य था पूरे समाज को दिशा देते हुए भावी भारत की कोई तस्वीर किसी कागज पर उकेर लेना अथवा जन-जन के मनमन्दिर में उसको अंकित कर देना।

इस पीढ़ी के लोग ऐसी साधना के साथ स्वयं अपने विवेक जागरण के साथ-साथ सत्य के सीधे अनुसंधान में लग जाते थे। यह **गांधी-बापू** की दीक्षा का ही प्रताप था कि देश का कोई कवि, कोई सर्जक और कोई सच्चा शिक्षक पूरे निःस्वार्थ भाव से सिर्फ सत्य के अनुसंधान में संलग्न हो जाता था। यह अनुसंधान एक तरफ आत्मतत्व का अनुसंधान था और दूसरी तरफ लोकतत्व का अनुसंधान। यहां लोक सबसे बड़ा था। पहली प्राथमिकता लोक था और यही वजह थी कि सत्य के अनुसंधान से पोषित एवं पुष्ट हुआ लोक सच्चे लोकतंत्र की स्थापना कर सकता था और पूरे विश्व के सामने सत्य और अहिंसा के मार्ग से एक बड़े साम्राज्य को जीत लेने और फिर एक लोकतांत्रिक एवं सम्प्रभुता सम्पन्न देश के रूप में स्थापित कर देने का उदाहरण पेश कर सकता था। मानवता के इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ था और जो ऐसा कर सके उनमें से एक कवि यह भी था जिसने भारत की सर्वोच्च सभा को आज चौकन्ना कर दिया था !

यह आपातकाल का समय था और यह सभा देश की राज्य सभा थी। जो कवि यहां बोल रहा था उसका नाम था **उमाशंकर जोशी। उमाशंकर भाई** की जन्मशताब्दी इसी माह से प्रारम्भ हुई है। वे गुजरात विश्वविद्यालय के कुलपति थे और देश के कई बड़े विश्वविद्यालयों के सर्वोच्च पदों को भी उन्होंने सुशोभित किया था। राजस्थान से **उमाशंकर भाई** को विशेष अनुराग था। वे गुजराती और राजस्थानी भाषा में बहुत करीबी का रिश्ता देखते थे।

उमाशंकर भाई; गांधी, **विनोबा** और **रविशंकर महाराज** की सत्संग में पूरी तरह से रंग गये थे। उनके पूरे व्यक्तित्व का विकास एक गांधीवादी, विचारक, सर्जक एवं शिक्षक के रूप में हुआ था। वे सच्चे शिक्षा मनीषी थे। नौजवानों के साथ रहते थे। उनकी भावनाओं को समझते थे और अमूमन उनके साथ सुर में सुर मिलाते थे। छात्र शक्ति को सही दिशा देना वे जानते थे और यही वजह है कि विश्वविद्यालयों के प्रशासन में भी वे इतने सफल रहे कि कभी किसी छात्र से शिकायत नहीं रही। वे मानवीय मर्यादाओं के प्रति नयी पीढ़ी को

ठीक से आगाह भी कर सकते थे और सीधा लोकतान्त्रिक नेतृत्व भी दे सकते थे। इतिहास गवाह है कि गुजरात में जब **नवनिर्माण समिति** का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो सारे छात्रों को उनका मशविरा मनभावन लगता था। वहां पीढ़ियों के बीच में फासला दिखाई नहीं देता था और यही वजह है कि गुजरात आंदोलन **जयप्रकाश नारायण** के लिए भी रोशनी देने वाला बन गया था। फिर एक प्रयोग सफल हुआ था। सत्याग्रह के रास्ते से एक सरकार गिरी थी और दूसरी अत्यन्त विनम्र सरकार सत्ता में आयी थी। दुखद स्थिति केवल यह है कि आज के विश्वविद्यालय मुड़कर **गुजरात नवनिर्माण समिति** के आंदोलन की विवेचना नहीं करते हैं और न ही वे **जे.पी.** के **सम्पूर्ण क्रांति आंदोलन** को समझने का प्रयास करते हैं। **उमाशंकर भाई** जैसे शिक्षक को याद करते हुए हमें ऐसी विवेचना कर लेनी चाहिए ताकि हम भावी पीढ़ियों के सामने दो सच्चाइयों को जिन्दा रख सकें। ❑

जुलाई-अगस्त, 2011

अण्णा को आदाब

आजाद भारत में ऐसा पहली बार हुआ था कि पूरा देश उठ खड़ा हुआ था। मुद्दा सिर्फ एक था—भारत को भ्रष्टाचार-मुक्त करने का मुद्दा। दिखने में यह एक दीखता था मगर इसके अर्थ बड़े व्यापक थे। पहली बार किसी एक मुद्दे पर पूरा देश एकजुट हुआ था। भ्रष्ट-व्यवस्था को सहन करते करते लोग उकता चुके थे। पानी सिर से गुजर गया था। कुछ कहने को रह नहीं गया था। सहने की भी कोई सीमा नहीं थी, मगर संकट यह था कि हाथ पकड़ कर कोई खड़ा कर देने वाला अब तक जागा नहीं था।

महाराष्ट्र के एक छोटे से गांव **रालेगांव सिद्धी** के एक साधारण से आदमी ने पहली बार कुछ ऐसा कर दिखाया था कि यह देश अपनी मूल आत्मा और अस्मिता को संभालते हुए एक होकर अपने विराट रूप में अपने को फिर व्यक्त कर रहा था। दुनिया जो देख रही थी, वह इस राष्ट्र का सच था। हमारी संस्कृति का सच था। त्याग और तपस्या की लम्बी परम्परा का सच था। ऐसा नहीं था कि किसी ने इस पूरी घटना की कहीं दूर बैठकर कोई पटकथा लिखी थी। जो कुछ हुआ था वो स्वतः स्फूर्त था, आत्मप्रेरित था, सहज थाऔर यहां न कोई भंगिमा थी न नाटक था। जो था वो सामने था और अपने आप में सच था।

यह कैसा सच था कि लाखों लोग छोटे-बड़े हर गांव में लाखों की संख्या में सड़कों पर निकल आये थे। न दिन का पता था न रात का। दिल्ली के रामलीला मैदान में हजारों लोग रात-रात भर अपने अपने समूह बनाकर एक मुद्दे पर एकजुट हुए बैठे थे। किसी को किसी से कोई खतरा नहीं था। लाखों की संख्या में मोमबत्तियां लिये चलने वाले किसी भी आदमी ने किसी दूसरे पर पिघले मोम की बूंद तक नहीं गिरने दी थी। लोगों ने कागज की 'कोन' बना बनाकर मोमबत्तियों के पिघले मोम को हाथ में थामा था मगर कहीं किसी को आंच तक नहीं आने दी थी। किसी की ठोकर तक किसी को नहीं लगी थी कहीं किसी को खरोंच नहीं आयी थी। सभी एक दूसरे के प्रति

पूर्ण आदर भाव लिये चल रहे थे। एक ऐसा अहिंसक कारवां था ये कि दुनिया देखती रह गयी थी।

जिन्होंने आजादी का आंदोलन नहीं देखा उन्होंने पहली बार इस सच का सबूत पाया था कि यह देश अपने मूल स्वभाव में पूर्णतया अहिंसक है। शांतिमय है। करुणा से ओत-प्रोत है। सत्य और प्रेम के रस में पगा हुआ है। सबके लिये न्याय और सबका सुख इस देश का जीवन धर्म है। दुनिया ने ऐसी जीती जागती मिसाल न पहले कभी देखी थी और न आज ऐसा किसी के लिये प्रत्याशित था। अपेक्षित था। सब कुछ अनेपक्षित सा घट रहा था। आंखों के सामने। लोग दांतों तले अंगुली दबाये मूक दर्शक बने उत्साहित हो रहे थे, ऊर्जा पा रहे थे।

इस तरह से उत्साहित होने और ऊर्जा पाने का कारण यह था कि भारत देश के इस प्रदर्शन में पूरी इंसानियत को एक आशा दिखायी दी थी। जिस दुनिया में हिंसा का कहर बरपा हुआ है वहां ऐसी अमन पसंद कौम भी कहीं है ! आज भी हो सकती है !! यह सब न केवल सदियों तक आश्वस्त करने वाला था बल्कि हमारे कल के प्रति भरोसा दिलाने वाला था। हिंसा की सतायी हुई दुनिया आज अमन चाहती है। पूरी तरह से खतरे से खाली समाज में जीना चाहती है। दुनिया को कल भी आशा भारत से ही थी और आज भारत ने फिर से इस आशा को हरा-भरा कर दिया था।

मुझे बार-बार **वीरेन्द्र मिश्र** का गीत याद आ रहा था—**मेरा देश है ये, इससे प्यार मुझको** ...। इस देश को अपनी मूल शक्ति का परिचय कराने वाले **अण्णा हजारे** के प्रति मन बार-बार नतमस्तक हो रहा था। **अण्णा** के स्वास्थ्य की चिंता लेशमात्र भी मन में कहीं नहीं थी क्योंकि **अण्णा** ने जिस विश्वास के साथ भारत की जनता से ऊर्जा बटोरी थी वह ऊर्जा किसी भी प्रकार के खतरे से आदमी को उबार सकती है।

अण्णा ने जिस मुद्दे को उठाया था वह दरअसल पूरे देश के लिए **आत्म-शुद्धि का मुद्दा** था। यह पूरी कौम के लिए अपनी आंतरिक उज्जवलता को बचा लेने की मुहिम थी। राजनीति को आचरण की शुद्धि देने का वही मार्ग **अण्णा** ने दिखाया था जिसकी नींव महात्माजी ने रखी थी।

बापू आज फिर सहसा अपने वैचारिक स्वरूप में प्रकट हो गये थे। उनके सारे संदेश पूरे देश को मंझधार से बाहर निकालने वाली पतवार हो गये थे। फिर देश के सामने किसी सन्मार्ग का रास्ता खुल गया। वही मार्ग जिस पर किसी एक महाजन ने चल कर दिखाया था।

उनके जीवन के द्वारा दिया गया हर संदेश आज प्रासंगिक हो गया था। इतना ही नहीं यह भी सिद्ध हो गया था कि **बापू** का पढ़ाया हुआ हर पाठ यह देश अब तक संजो कर रखता रहा है। यह भी सिद्ध हो गया था कि **कुछ बात है कि ऐसी हस्ती मिटती नहीं हमारी। सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहां हमारा।** सिद्ध यह भी हो गया था कि इस देश को संकट के हर मोड़ पर जगाने के लिए कोई जरूर आता है। और ऐसा शायद हर सभ्यता का सच है। **अण्णा** ने हमें जगाया था, फिर से अपनी सादगी और विशुद्ध प्रेम का परिचय देकर पूरे देश को उसकी अस्मिता से जोड़ दिया था। जिस ऊर्जा का संचार **अण्णा** कर सके थे उसके प्रति हम नतमस्तक हैं। **अण्णा** को आदाब करते हैं।

❑

सितम्बर-2011

कबीर का करघा; गांधी का चरखा

कबीर करघे पर कपड़ा बुनते थे। झीनीझीनी चदरिया बुनते थे। ऐसे जतन से बुनते थे कि कोई उसे ओढ़े और मैली भी न करे। झीनी भी इसलिए बुनते थे कि उनकी बुनी चदरिया किसी के तन पर बोझ न बने और जो जब चाहे तब छोड़ दे, उतार दे और पार उतर जाये। कबीर के इस करघे में जो ताने-बाने थे वे उनकी साधना से बुने गये थे। साधना के साथ उनके तप से बने थेऔर तप के साथ उनके त्याग से बने थे। घर में लाख तंगी हो मगर कबीर के करघे से उतरा हुआ कपड़ा सिर्फ ऐसे ही दामों में बिकता था कि हर गरीब उसे ओढ़ सके, पहन सके। कबीर को मुफलिसी में रहना मंजूर था मगर मुनाफे की रोटी खाना गवारा नहीं था।

कबीर के इस करघे का तप था कि वह जन-जन का तन ढकता था। कबीर का अपना तन भले अधढका, अधनंगा रहे मगर कबीर को चिंता औरों की थी। लोक की थी, और लोक-लाज की थी।

कबीर के इस करघे का ताना-बाना कथनी और करनी के मेलमिलाप से बना था। वहां कथनी और करनी में कोई भेद नहीं था। जो किया जा रहा है वही कहा भी जा रहा है और जो कहा जा रहा है वह सिर्फ सच है। ऐसा सच है जो इस जुलाहे ने खुद उघाड़ कर देखा है, स्वयं उद्‌घाटित किया है। यह ऐसा सच है जो जानने से पहले नहीं कहा गया है और जिसे जानने के लिए खोजा गया है और खोजते हुए उसे पाया गया है। ऐसे और इतने खरे सत्य से और कर्म से बुना गया ताना-बाना जो चादर बनायेगा वह कैसी होगी इसका अंदाज तो कोई भी सुधी पाठक लगा सकता है।

कबीर जिस करघे को बुनने में तल्लीन थे उस करघे को बुनने का मुख्य उद्देश्य उनका सत्यान्वेषण थाऔर उनका सत्याग्रह था। कबीर दरअसल पहले सत्याग्रही थे और गांधी दूसरे सत्याग्रही।

मुझे एक अरसे से ऐसा लग रहा है कि कबीर के करघे और गांधी के चरखे के बीच एक करीब का रिश्ता है। यह रिश्ता एक-दूसरे का पूरक-

परिपूरक रिश्ता है। कबीर के समय और समाज का संकट कुछ ऐसा था कि उसके करघे का सूत अनायास ही रीत गया, खत्म हो गया। जैसा कि समय सबके साथ करता है कबीर के साथ भी हुआ। करघा भी धरा का धरा रह गया और कबीर भी अपनी खुशी से सहसा चल बसे। उनका जाना एक तरह से मृत्यु को वरण करना था। पूरी तैयारी के साथ काशी छोड़ कर वे मगहर चले गये थे और जानते थे कि वहीं उन्हें शरीर छोड़ना है। यह इच्छा-मृत्यु स्वयं कबीर के लिए भले सामयिक रही हो मगर समाज के लिए एक दुर्घटना थी। उस काल विशेष के एक बड़े सामाजिक सत्याग्रह के आगे विराम लगा देने वाली घटना थी। विराम न भी कहें तो एक लम्बा अर्द्ध-विराम तो लग ही गया था।

इस अर्द्ध-विराम को हटाने के लिए एक दूसरे संत का आगमन हुआ था। यह संत महात्मा गांधी था। मुझे व्यक्तिशः लग रहा है कि उसने चरखे का चयन ही इसलिए किया कि कबीर के करघे का सूत कभी रीते नहीं और उसे निरन्तर कता-कताया सूत मिलता रहे। अकेले गांधी नहीं थे जो चरखा कातने लगे थे बल्कि उनके साथ करोड़ों हिन्दुस्तानी थे जो चरखा कातने लगे थे। इस चरखे के सूत का अन्तर्संबंध भी जन-जन की जरूरत से था। कबीर भी अधनंगे थे और गांधी भी। किसी को यह स्वीकारने में शर्म नहीं आनी चाहिए कि तब तीन-चौथाई देश अधनंगा था। आज भी आधा देश अधनंगा है और आधा बेशकीमती कपड़ों के अम्बार में दफन हुआ जा रहा है। शर्म आज भी नहीं है। मगर सच्चाई आज की यह है कि आज कोई चरखा नहीं कात रहा है।

गांधी का चरखा कबीर के करघे को बनाये रखने के लिए था। तो कबीर का करघा जन-जन की जरूरत को पूरी करने के लिए था। ऊपर से दिखने में तो यह वस्त्र की जरूरत थी मगर भीतर से देखने में यह जरूरत 'मानवीय-वस्त्र/ह्यूमन फाइबर' को बनाये रखने की थी। गरज यह थी कि इंसानी-बाना जस का तस बना रहे और आदमी-आदमी से सिर्फ प्रेम करता रहे। जीवन-पर्यन्त सिर्फ ढाई आखर सीखता रहे। और फिर इन्हीं ढाई अक्षरों को ताजिन्दगी जीता रहे और जीने देता रहे।

गांधी भी इंसानी भेदभाव के खिलाफ थे और इंसानी लिबास की एकरूपता के हिमायती थे। उनके यहां भी जात-पांत को कोई पूछता नहीं था और कबीर के यहां भी जात-पांत का कोई अर्थ नहीं था। गांधी भी सत्य के आलोक में हर हकीकत को देखना चाहते थे और कबीर भी सिवाय सत्य के

और कुछ भी जानना जरूरी नहीं समझते थे। आज मुड़कर के देखें तो लगता है कि गांधी का आना जैसे कबीर के सच को आगे बढ़ाने के लिए जरूरी था। कबीर के करघे और गांधी के चरखे के बीच इस रूहानी रिश्ते को देखने का काम मैं भी अपनी किसी अन्तःप्रज्ञा के मार्फत ही कर पा रहा हूं। तर्क शास्त्री यदि कुछ जानना चाहेंगे तो मैं यही कहूंगा कि दोनों के रिश्तों को तर्क से नहीं समझा जा सकता; सिर्फ ज्ञान से समझा जा सकता है और प्रेम की परिपूर्णता में उतर कर, डूब कर देखा जा सकता है; 'दुई' को समाप्त करके जिया जा सकता है। कबीर और गांधी दोनों ने इसे जिया था। ❑

अक्टूबर-नवम्बर, 2011

शिक्षा का सच!

मैं पिछले पचास वर्षों से शिक्षा के सच को जानने और समझने की कोशिश में जुटा हूं। जितना खोजता हूं उतना ही उलझता हूं। शिक्षा के बीच रह कर के भी शिक्षा को समझने से बार-बार वंचित रह जाता हूं। यह स्थिति ठीक वैसी ही है जैसी कि मछली की होती है, पानी में रहकर वह प्यासी रहती है और संतों को इस पर हंसी आती है। मैं भी वैसी ही हंसी का पात्र हूं, कोई पाठक मदद करे तो बड़ा उपकार होगा।

किसे कहूं मैं शिक्षा? क्या है शिक्षा का सच? कैसा होता है शिक्षित व्यक्ति और कैसा होता है पढ़ा-लिखा समाज? मेरे गुरु श्री दयालचन्द्र जी सोनी तो पूरी एक काव्यात्मक पुस्तक लिख गये। इस पुस्तक का नाम है '**हूं अणभणियों शिक्षित हूं**'। उनका आशय स्पष्ट है कि हर पढ़ा-लिखा आदमी अनपढ़ है। हम सब अशिक्षित शिक्षित हैं। तब फिर हमें यह भी मान लेना चाहिए कि हमारा पूरा पढ़ा लिखा समाज खासा अनपढ़ है। अशिक्षित है। तब फिर बताइए कि शिक्षा को कहां खोजें। न यह मन्दिर में मिलने वाली है, न किसी मदरसे में, न मस्जिद में, न गुरुद्वारे में और न ही किसी विद्यालय में। तब बताइए कि यह शिक्षा हमें कहां मिलेगी? इसका स्वरूप क्या है? इसकी पहचान क्या है? इसकी शक्ल सूरत क्या है और इसका सच क्या है?

कहते हैं कि शिक्षा बालक के जन्म के साथ बालक को मिली प्रतिभा को विकसित करने का नाम है। उसकी सोयी हुई शक्तियों को जगाने का नाम शिक्षा है। मगर ऐसा तो तब सम्भव है जब हम यह जान लें कि कौन-कौन सा बालक कौन-कौन सी प्रतिभा के साथ पैदा हुआ है ? उसके मन-मस्तिष्क में कौन-कौन सी शक्तियां सोयी हुयी हैं?

इसका अर्थ यह हुआ कि जो-जो बालक शाला में आया है उसको हम पहले पढ़ें। हर बालक को पढ़-पढ़ कर पहचानें कि वह क्या है? उसकी प्रदत्त प्रतिभा क्या है? और कौन-कौन सी सुशुप्त शक्तियों को लिये हुए वह हमारे सामने उपस्थित हुआ है। अब हम जरा अपने से पूछें कि क्या आज का कोई

भी विद्यालय ऐसा करता है? आज के अध्यापकों के पास और साथ ही मकड़-जाल की तरह फैले हुए शिक्षातंत्र के पास बालकों को पढ़ने की कोई फुर्सत और कूवत है क्या?

बालकों को पढ़ने के लिए उनसे जुड़ना पड़ता है। उससे भी पहले दुलार से भरी किसी बाल-वत्सल व्यवस्था का विकास करना पड़ता है। और फिर बालकों को हुलरा कर, दुलरा कर उनके मन में प्रवेश करना पड़ता है। फिर एक-एक घड़े की तरह बजा-बजा कर उनको शिक्षित करना होता है। अब जरा हम अपने से पूछें कि क्या आज की शिक्षा के पास बालक को पढ़ने, पहचानने और उसकी काया में प्रवेश कर उसे जान लेने की कोई विद्या मौजूद है? इस सवाल के जवाब में मैं ठिठका खड़ा रह जाता हूं और मेरे साथ ही उन तमाम पढ़े-लिखे अनपढ़ लोगों की फौज भी हतप्रभ खड़ी रह जाती है जो इस देश के विशाल शिक्षातंत्र के कारिन्दे हैं, मुलाजिम हैं, अफसर और मंत्री हैं।

कहते हैं कि शिक्षा अभय देती है। ऐसा अभय देती है कि हर विद्यार्थी निर्भय और निडर होकर किसी भी संकट का सामना कर सकता है। मगर आज की शिक्षा का सच यह है कि हर विद्यार्थी घनघोर रूप से डरा हुआ है। डर उसकी रगों में बैठ गया है। डर दहशत में बदल गया है और सच यह भी है कि इस दहशत के मारे सैकड़ों विद्यार्थी आत्महत्या को विवश हो चुके हैं। अपनी देह लीला को समाप्त कर चुके हैं। अभी हाल ही में बारां जिले की तीन बेटियां अपने जीवन को जहर की गोलियां खा कर समाप्त कर चुकी हैं। शिक्षा का अगर असली सच यह है तो वह किसे अभय दे रही है? दे भी भला कैसे सकती हैं? डराने धमकाने के तो सैकड़ों साधन शिक्षा पहले ही कांटों की तरह बिछा चुकी है। परीक्षाएं भी जहां पुलिस की देख-रेख में होती हों वहां अभय की क्या बिसात कि वो किसी शाला में प्रवेश कर जाय? धन्य है ऐसी शिक्षा जो न तो खुद अपने को पा सकी है और न किसी विद्यार्थी के पास जा सकी है!

कहते हैं कि शिक्षा जिज्ञासा जगाती है। सवाल करना सिखाती है। अपने जीवन के सच को खोजने और उसे जान लेने का कौशल प्रदान करती है। निरन्तर अन्वेषित करते रहने और रचते रहने की शक्ति भी देती है।

कहा तो यह भी जाता है कि सवाल करना और निरन्तर रचते रहना ही शिक्षा का सार है। अब हम अपने से पूछें कि क्या शिक्षा ऐसा कर रही है? सवालों पर ताले जड़ने वाली और प्रश्न-पत्रों को पुलिस थाने में सुरक्षित करने

वाली शिक्षा भला कौन से सवाल करना सिखाएगी और कैसी जिज्ञासा जगाएगी?

माना गया है कि शिक्षा हर बालक के मन में सत्य की प्रतिष्ठा करती है। उसे सत्यनिष्ठ और सत्यवादी बनाती है। मगर आज समाज जिस तरह से असत्य पनप रहा है, उससे तो यह भी नहीं लगता समाज शिक्षित हो रहा है!!

कहा तो यह भी जाता है शिक्षा बालक को सत्यनिष्ठ बना कर उसे असत्य को अस्वीकार करने की शक्ति देती है। साथ उसे रचनात्मक आलोचना करने का हुनर भी देती है। आलोचना के साथ-साथ शिक्षा सृजन भी सिखाती है। क्रिटिसिज्म और क्रिएटिविटी हगी शिक्षा के दो आधार-बिंदु हैं। उद्देश्य हैं। मगर आज दोनों नदारद है। सिर्फ कम्पीटीशन का बोलबाला है।

कहा जाता है शिक्षित व्यक्ति अरिहंत होता है। इंद्रजित होता है। अर्थात शिक्षा को पा कर हर व्यक्ति अपने भीतर बैठे अहंकार रूपी शत्रु का शमन करने में समर्थ होता है। तभी वह विनयशील होता है। लेकिन क्या यह सच है?

सच यह भी नहीं है कि आज का शिक्षित व्यक्ति इंद्रजित हो गया है। यदि ऐसा हो जाये तो फिर पढ़े लिखे समाज में वासना का ऐसा लोलुप व्यापार नहीं पनपेगा। आज समाज एंद्रिक सुख का गुलाम हो गया है। भोग हमारी भावनाओं पर सवार है। तब मैं कहां तलाशूं शिक्षा। कैसे कहूं कि मैं शिक्षित !

कहा यह भी जाता है कि शिक्षा सह-जीवन सिखाती है। प्रेम करना सिखाती है। करुणा उपजाती है। बालको को विनय देती है और विवेकवान बनाती है। भाईचारा पनपाते हुए वह दूसरों के दर्द में काम आना सिखाती है। जो कहा जा रहा है वह भी सच है मगर पग-पग पर प्रतियोगिताएं कराने वाली शिक्षा कैसा सह-जीवन सिखाएगी? कैसे सिखाएगी? अब बताइए इस शिक्षा के सच को हम कहां तलाशें? ❑

दिसम्बर-2011

आदरणीय नयना बहन...

आपसे फोन पर बात होती है। बहुत अच्छा लगता है। अभी परसों तो जब दूसरे छोर पर प्रकाश भाई बैठे थे तब तो और भी अच्छा लगा। मुझे लग रहा था कि हम तीनों लोग एक तरह से ऑडियो कान्फ्रेंसिंग कर रहे हैं। अब अंततः प्रकाश भाई ने इसे **फोनफ्रेंसिंग** का सही नाम दे ही दिया है।

आपने फोन पर जब संवाद शुरू ही कर दिया हैतो अपनी पूरी बात कहने के लिए मैं यह पत्र लिख रहा हूं, अपने वादे के मुताबिक।

प्रश्न यह है कि हम महिला साक्षरता के लिए क्या करें? दूसरा प्रश्न यह भी है कि हम महिलाओं के बीच कोरी साक्षरता का ही काम क्यों करें? इससे भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि साक्षरता की हमारी समझ क्या है? साक्षरता के कौनसे स्वरूप को हम सेव्य मानते हैंअथवा अपना आराध्य मानते हैं? एक और सवाल है कि हम कौनसी महिलाओं के बीच काम करें? वे महिलाएं कहां रहती हैं? उनके साथ हमारा संबंध क्या है? हमारी रिश्तेदारी क्या है? उनके साथ मेलजोल अथवा संवाद के लिये हमारे पास कितना समय है और उन महिलाओं के साथ हमारा संवाद कितना फ्रीक्वेंट होने जा रहा है? जिन महिलाओं के बीच जाकर हम काम करना चाहते हैं उनकी अपनी आबादी में ऐसे कितने लोग हैं जो स्वयं पढ़े लिखे हैं और साथ ही हमारा साथ देने को तैयार हैं? उनको चुनने का काम हम कैसे करेंगे? चुन लेने के बाद उनको प्रेरित अथवा ऊर्जित करने के हमारे तरीके क्या होंगे? प्रशिक्षित करना भी मैं कह सकता हूं, मगर प्रशिक्षण से पहले हमारी आवश्यकता उनको *इमोशनली-चार्ज* करने की है। दरअसल जब तक सामुदायिक स्तर पर एक अच्छी टीम न बने तब तक किसी भी काम की शुरुआत बहुत आश्वस्त नहीं करती है। सबसे बड़ा सवाल हमारे काम को बनाये रखने अथवा टिकाये रखने का है।

आपके पास साक्षरता के काम का लम्बा अनुभव है, समझ है, आपकी अपनी इच्छा है और आपके पास समय भी है। मेरे पास थोड़ा समय भी है, अनुभव भी है, इच्छा शक्ति भी है, मगर अब बाई-पास सर्जरी के बाद मैं अपनी सीमाएं समझता हूं; फिर भी विश्वास है कि अच्छे मित्रों की सत्संग में कुछ सार्थक काम किया जा सकता है।

काम शुरू करने से पहले मैंने ऊपर जो सवाल किये हैं उनका उत्तर हमें ढूंढ़ना पड़ेगा। जाहिर है कि साक्षरता केवल अक्षर और अंक सिखाने का काम नहीं है। यह छोटी सी बात हमें सबसे पहले मान लेनी होगी और समाज में साक्षरता की व्यापक समझ बनाने की पहल करनी होगी। साक्षरता में और शिक्षा में बहुत निकट का रिश्ता है। ऐसा नहीं है कि जो साक्षर होता है वह शिक्षित नहीं होता है। इसके विपरीत यह एक बड़ा सच है कि अधिसंख्य निरक्षर लोग काफी शिक्षित होते हैं और उनके शिक्षित होने का स्तर कई बार तथाकथित शिक्षित लोगों से काफी ऊंचा होता है। साक्षरता की व्यापक अथवा मूल अवधारणा में अंक और अक्षर सिखाने के साथ-साथ जागरण भी समाहित है। कोई समाज साक्षर हो जाये और फिर सोया रहे यह संभव नहीं है। फिर भी यदि होता है ऐसा तो समझना चाहिए कि वह समाज साक्षर हुआ नहीं है अथवा उसकी साक्षरता अधूरी है। जाग्रति साक्षरता की पहली सीढ़ी है अथवा पहला सोपान है। इसे पहली शर्त कहना भी शायद ज्यादा सही होगा।

साक्षरता की व्यापक अवधारणा में दूसरा अर्थ जाग्रति के साथ-साथ जड़ता को तोड़ना भी है। केवल तोड़ना ही नहीं जड़ता से बाहर निकलते हुए सामाजिक बदलाव का संकल्प करना साक्षरता की अवधारणा में समाहित है। यदि हम समाज में बदलने की इच्छा जाग्रत कर सकते हैं तो हमें मानना चाहिए कि साक्षरता की शुरूआत हो गयी है। बदलाव का यह काम मूलतः बगावत का काम है अथवा क्रांति का काम है। समझना हमें यह है कि हमारे साथ कितने क्रांति-चेता लोग जुड़ सकते हैं और वे कैसे सोये हुए समाज को फिर से जगाने का काम कर सकते हैं।

जब मैं आपसे ऐसा कह रहा हूं तो मेरे मन में बापू की नयी तालीम का पूरा दर्शन है तथा पाउले फ्रेरे के शिक्षा दर्शन का संदेश भी। हमें यह भी जानना है कि जाग्रति और बदलाव के इस काम को हम साक्षरता के पहले पाठ के साथ क्यों जोड़ना चाहते हैं? यह कैसी विडम्बना है कि समाज में निरंतर बढ़ती विषमता को हम पूरी निरीहता के साथ अब तक निहारते रहे हैं!

कोई उपाय तक नहीं करता गरीब और अमीर के बीच बढ़ती खाई की बढ़त को रोकने का! हमें शर्म भी नहीं आती कि आदमी और आदमी के बीच फासले असहनीय हो गये हैं। दलालों, जमाखोरों, बिचौलियों और सरमायेदारों की पौ बारह पच्चीस है! महिलाएं आज भी हर तरह की मार और अपमान की शिकार हैं। ज्योतिषियों, वास्तुशास्त्रियों और अंधविश्वास फैलाने वालों की दूकानदारी खासी चल रही है और ऐसे में शिक्षा वाले मुंह ताक रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि कोई बदलाव की बात न करे तो क्यों? अब जुंबिश जरूरी है, नयना बहन!

अगर आप यह मानती हैं कि ऐसा महत्त्वपूर्ण काम हम किसी सरकारी कार्यक्रम के अंतर्गत कर सकते हैं तो यह हमारी भूल होगी। सरकार को अपनी अवधारणा के बारे में सब कुछ बताते हुए यदि हम सरकार को साथ ले सकते हैं तो मुझे कोई एतराज नहीं है। तब हम सरकार का सहयोग भी ले सकते हैं और सरकार से आर्थिक मदद भी। ऐसा सम्भव तब होगा जब हम एक नूतन प्रयोग के रूप में साक्षरता के कुछ सुचिंतित काम गुजरात अथवा राजस्थान में प्रारंभ करें। उनका लक्ष्य बहुआयामी हो और साक्षरता की व्यापक अवधारणाओं को धरती पर उतारने का हो।

मगर महत्त्वपूर्ण यह है कि हम जानें कि समाज में कहां कैसे बदलाव की जरूरत है? क्या है जो बदलना चाहिए और क्या ऐसा है हमारी इस सभ्यता में जिसको नहीं बदलना चाहिए। इकबाल को याद करते हुए ठीक से सोच लेना चाहिये कि हमारा अपना ऐसा क्या कुछ है, जो मिटाये नहीं मिट रहा है। 'सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहां हमारा।' मैं आपको याद दिला दूं कि बापूजी ने हिन्द स्वराज में भारत की सभ्यता से चिपके रहने की सलाह हमें दी है। उन्हीं संदर्भों में बहुत कुछ ऐसा है जिसे हमें बचा भी लेना है। बदलना और बचाना ये साक्षरता के दो ओर छोर हैं। कृपया विचार करें।

नयना बहन, हमको भूलना नहीं चाहिये कि हमारे अपने इस प्यारे देश और इस सुंदर से समाज के दुश्मन बाकायदा हमारे बीच विराजमान हैं। हमारे धीरज की परीक्षा तो यह है कि हम उन्हें दुश्मन भी न कहें मगर फिर भी उनकी एक न चलने दें। उनकी हर चाल को नाकाम करते रहना एक जाग्रत समाज के ही बस की बात है। हम जानते हैं कि समाज को मीठा जहर देकर सुलाये रखने की तमाम साजिशें आज हमारे बीच बदस्तूर चल रही हैं। मीडिया भी इसमें भागीदार है। शिक्षा भी इसमें भागीदार है। तथाकथित लोक-कल्याण की योजनाओं का भी अन्ततः यही हश्र होता है। प्रश्न यह है

कि हम कैसे उन तमाम ताकतों से बचें जो समाज को पीछे धकेलने का काम करती हैं। ये प्रतिगामी ताकतें प्रेम नहीं फैलातीं। निरन्तर नफ़रत की खेती करती हैं और नफ़रत कभी भी हमारा धर्म नहीं हो सकती। धर्म यदि कोई है तो वह शुद्ध प्रेम है, अनन्त करुणा है, मैत्री है। जब मैं प्रेम और करुणा की बात करता हूं तो मेरे लिए ये कोरी अमूर्त अवधारणाएं नहीं है, बल्कि मेरा आशय इस समाज को एकजुट रखते हुए तरक्की की ओर ले जाने से है। साक्षरता हमें उधर ले जा सकती है। साक्षरता समाज को सींच सकती है। ऐसी खाद और ऐसा पानी दे सकती है कि वहां सब कुछ सरसब्ज हो और इंसानियत लहलहाती हुई सामने खड़ी हो। आपको यह पत्र लिखते हुए मेरा मन निरन्तर प्रार्थना में निमग्न है। मेरी प्रार्थना है कि प्रभु हमको ऐसी शक्ति दे, इतनी ऊर्जा दे कि हम ऐसा कुछ कर सकें जो सबके लिये सुखदायी हो। सबको आलोकित करने वाला होऔर लोक-शक्ति के शुद्ध आलोक में हमारा समाज पुनः उठ खड़ा हो।

इसका अर्थ यह हुआ नयना बहन, कि साक्षरता का काम लोक-जागरण का और लोक-शक्ति को संगठित करने का काम है। अपनी करुणा से लोगों का दुख दूर करने का काम हैऔर अपने प्रेम से हजारों हजार लोगों को नयी ऊर्जा देने का काम है। अब प्रश्न यह है कि हम यह कैसे करेंगे ?

एक बार असंभव लग सकता है ऐसा काम। मगर असंभव यह है नहीं। हमारे पास विरासत है। **आजादी के आंदोलन की विरासत** है। **गांधी, विनोबा की विरासत** है। **रामकृष्ण** और **विवेकानन्द** की विरासत है। **रमण महर्षि** और **महर्षि अरविन्द की विरासत** है। एक मार्ग बना हुआ है। महाभारत की यह उक्ति हम भूल नहीं सकते '**महाजनो येन गतो सो पंथाः**'। ये रास्ते पुराने लग सकते हैं। कोई कहेगा कि बोदी बातें हैं मगर **जयप्रकाश का सम्पूर्ण क्रांति का आंदोलन** तो अभी कल की बात है। **बाबा आम्टे** की पूरी तपस्या तो आज की ही बात है। उसे देखते हुए लोक-शक्ति के प्रति हमारी अपनी आस्था को हमें पुनर्जीवित करना चाहिए। उसी के सहारे हम आगे बढ़ सकते हैं। अपने निस्वार्थ प्रेम और निरन्तर सेवा के जरिये ही लोगों को अपना बना सकते हैंऔर किसी अच्छे परिवर्तनकारी काम की शुरुआत कर सकते हैं। इन्हीं अर्थों में साक्षरता का काम मेरे लिए पुनर्जागरण का काम है। मेरा मानना है कि बंगाल से आरम्भ हुए पुनर्जागरण में हमें नये प्राण फूंकने पड़ेंगे और उसका जरिया हम एक तरफ तो साक्षरता को बना सकते हैं और दूसरी तरफ महिलाओं को।

महिलाओं के साथ काम करने का मुझे थोड़ा मगर समुचित अनुभव है। अपने अनुभव के, आधार पर मैंने पाया है कि महिलाओं के साथ काम करना अपने आपको सींचना है, ऊर्जित करना हैऔर मातृत्व के आलोक की अनुभूति करना है। यही अनुभूति स्त्री-शक्ति के असली अहसास को हमारे भीतर जाग्रत करती है। धरती सा धैर्य हमारे भीतर भरती हैऔर सकल जगत को अपने प्रेम और करुणा से सींचने की हमें शक्ति देती है। मैं विनोबा द्वारा व्याख्यायित की गयी स्त्री-शक्ति का तो समर्थक हूं ही, मगर एक कार्यकर्ता के नाते अपने अनुभव से बटोरी गयी उस ऊर्जा के आधार पर आज स्त्री-शक्ति के प्रति अपनी आस्था को पुनः व्यक्त करता हूं। कभी मिलने पर आपको अपने अनुभव सुनाऊंगा। मैं जानता हूं कि सुनते हुए आप मेरे अनुभवों के आलोक से रोमांचित हो जायेंगी। यह रोमांच जागरण का रोमांच है। यही रोमांच हमें ऊर्जा देता है, गति देता है और आगे बढ़ने की शक्ति देता है। बिना ऐसी शक्ति बटोरे साक्षरता का काम नहीं हो सकता।

नयना बहन, एक मुश्किल काम को आसान बताते हुए मैं आपसे निवेदन करता हूं कि आप गुजरात में काम शुरू करें और मैं कुछ बहनों को साथ लेकर राजस्थान में काम शुरू करता हूं। काम की शुरूआत से पहले मैं इस काम की रूपरेखा को एक बार फिर लिपिबद्ध करूंगा। इसकी प्रक्रिया को व्याख्यायित करूंगा और इस काम में काम ली जाने वाली सामग्री के बारे में विस्तार से आपसे बात करूंगा। मेरा निवेदन है कि इसे आप भी एक प्रयोग समझना और मैं तो खैर, इसे प्रयोग कहूंगा ही। मेरे लिए यह नया प्रयोग नहीं होगा मगर पहले के तमाम प्रयोगों से भिन्न होगा। कारण यह है कि पिछले 20-25 वर्षों में मैंने निरन्तर कुछ सीखा है और अपने को सुधारा है। यह प्रयोग भी हमें सुधारते हुए हमारी पुनर्रचना करेगा ऐसा मेरा विश्वास है। यह मैं इसलिए कह रहा हूं क्योंकि मैं जानता हूं कि हर प्रयोग हमें नया जन्म देता है। हमारा एक नया संस्करण पैदा करता हैऔर हम नये आलोक के साथ जगत के सामने प्रकट होते हैं। मेरा निवेदन है कि आप कृपा करके मेरे इस पत्र पर विस्तार से विचार करें और आप जो भी सोचती हैं उससे मुझे भी अवगत करायें।

बहुत आदर के साथ,

रमेश थानवी

संपादक, अनौपचारिका

पुनश्च : यह पत्र अभी पहली कड़ी है। अधूरा है। दूसरा जल्दी ही लिखूंगा जिसमें साक्षरता के हमारे पूरे प्रयोग की पूरी रूपरेखा को शब्द दूंगा। एक खाका बनेगा, एक फ्रेमवर्क-कि हमें क्या करना है? कैसे करना है? कृपया प्रतीक्षा करें। ❑

नयना बहन अहमदाबाद में रहती हैं। श्रीमती नयना शाह इनका नाम है। नवरंगपुरा पोस्ट ऑफिस के पीछे प्रकाश बंग्लो में इनका घर है। उनके पास साक्षरता का काम करने का अनुभव है। साक्षर-भारत के कार्यक्रम में वे एक उम्मीद देखती हैं। स्वयं इस काम में जुट जाने की इच्छा रखती हैं नयना बहन। गुजरात के वरिष्ठ एवं प्रखर पत्रकार प्रकाशभाई शाह की पत्नी हैं। प्रकाश भाई 'निरीक्षक' के संपादक हैं। अपनी प्रखरता के कारण पूरे देश में जाने जाते हैं। प्रकाश भाई हमारे बड़े भाई हैं। अतः यह एक अत्यंत कौटुम्बिक पत्र है। मगर इस बात का सबूत है कि प्रादेशिक सीमाओं को लांघ कर भी शिक्षा-विमर्श कैसे एक सार्थक रूप ले सकता है। यही वजह है कि अनौपचारिका के प्रिय पाठकों के साथ इसे बांटा जा रहा है। ❑

संपादक

जनवरी, 2010

शिक्षा का विज्ञान!

शिक्षा के दर्शन पर तो बातें होती रही हैं, मगर शिक्षा के विज्ञान पर कभी किसी ने बात की हो, यह ठीक से याद नहीं पड़ता। हां, इतना जरूर है कि शिक्षा के मनोविज्ञान पर बहुत बातें होती रही हैं और बार-बार मनोविज्ञान की दुहाई के साथ शिक्षा को समझने की शिक्षा दी जाती रही है। ऐसी तमाम कोशिशों के बीच शिक्षा का विज्ञान कहीं छिपा रह जाता है। अनपेक्षित रूप से दबा रह जाता है।

फरवरी के महीने में **चन्द्रशेखर वेंकटरमन** के जन्म दिन पर मनाया जाने वाला **विज्ञान दिवस** हमें सहसा विज्ञान की याद दिला देता है। बरसों से मन में एक मुराद है कि **अनौपचारिका** के किसी एक **फरवरी अंक** को हम **विज्ञान अंक** के रूप में प्रकाशित करेंगे। यह मुराद मुराद ही रही है अब तक। एक सांगोपांग विज्ञान अंक निकालने की मनीषा हम मन में संजोये हुए हैं। उम्मीद करते हैं कि कभी यह सम्भव होगा।

इच्छा दरअसल यह है कि हम विज्ञान के नाना पहलुओं को पहले सिरे से समझना शुरू करें। उसके वर्तमान स्वरूप तक पहुंचने की सारी लम्बी यात्रा की ठीक से पड़ताल करें। वैज्ञानिक दृष्टि और वैज्ञानिक समझ के दुराग्रह ने हमारी सभ्यता को अब तक कैसे उलझाये अथवा खपाये रखा है इस पर भी विचार करें। यह सच है कि विज्ञान का मूल लक्ष्य मनुष्य का कल्याण था, जीवन को आनन्ददायी बनाना था। चीजों को आसान बनाना था और जीवन को सर्वतोमुखी सुविधा-संपन्न बनाना था। यह सब उचित था, मगर इससे भी पहले जरूरी यह था कि हम विज्ञान के सच्चे-सीधे स्वरूप को लोकमानस में ठीक से उकेरते, चित्रित करते अथवा उसे व्याख्यायित करते। विज्ञान है क्या और वह विशेष ज्ञान जो विज्ञान कहलाता है वह ज्ञान से किस कदर भिन्न है और क्यूं कर भिन्न है यह हमें जनता को बताना था। सच तो यह है कि विज्ञान का विज्ञान क्या है? यह हमें जान लेना था। लोगों को सिखा देना था, जन-जन तक संप्रेषित कर देना था, मगर ऐसा हम नहीं कर सके।

आज भी हमारे सामने यह एक ज्वलन्त प्रश्न है कि विज्ञान का विज्ञान क्या है? मैं यह कहने की हिमाकत कर रहा हूं कि विज्ञान के विज्ञान को समझ लेना ही शिक्षा का विज्ञान है। यह शिक्षा ही है जो सारी पहेलियों को बूझती हुई चलती है अथवा हर गुत्थी को सुलझाती हुई आदमी की समझ को विकसित करती हुई चलती है। शिक्षा ऐसा इसलिए करती है कि वह समाज को मुगालते में नहीं रखना चाहती। अब करती है कि नहीं करती है यह एक अलग प्रश्न है, मगर ऐसा करना ही शिक्षा का विज्ञान है।

शिक्षा का विज्ञान यह है कि वह आदमी को सूक्ष्म से सूक्ष्म सत्य तक पहुंचने में मदद करे। सत्य को पाने की इस मुहिम में किसी भी प्रकार का समझौता न करना सिखाये। मगर जिस किसी भी सत्य तक आदमी पहुंच जाये उस सत्य को भी अंतिम सत्य मान लेने के लिए वह मना करे। यदि शिक्षा ऐसा नहीं करती है तो ज्ञान का अन्वेषण, सत्य का अन्वेषण किसी एक स्थान पर ठहर जायेगा और आदमी बहुत अहंकार के साथ यह कहने लगेगा कि उसने अंतिम सत्य पा लिया है। हकीकत यह है कि अंतिम सत्य अभी तक किसी ने नहीं पाया है। हम सब सत्य के ही नहीं बल्कि सत्य की राहों के अन्वेषी हैं। हमको अभी तक वह रास्ता ही नहीं मिला है जो सत्य की ओर ले जाता हो। सत्य की आकांक्षा जगाना शिक्षा का काम है, शिक्षार्थी को सत्य के रास्ते पर चलाना भी शिक्षा का काम है।

यह सच है, मगर अनन्त अन्वेषण के साथ सत्य को जान लेने की जिज्ञासा को जिंदा रखना शिक्षा का विज्ञान है। हमें अपनी विरासत में दो शब्द मिले हैं, एक है **नेति-नेति** और दूसरा है, **चरैवेति-चरैवेति।** आशय यह है कि जो कुछ जान लें उसे अस्वीकार करना है और उससे आगे का सच पाने के मार्ग पर उन्मुख होना है। चलना है और आगे चलना है। यदि ठहर जाते हैं हम, तो जड़ हो जाते हैं। जड़ता शिक्षा का धर्म नहीं है। गतिशीलता शिक्षा का धर्म है। प्रतिपल परिवर्तन जीवन का सच है। मगर इस प्रतिबद्धता को जिंदा रखना कि सत्य के रूप में जो जाना जा रहा है वह भी अंतिम नहीं है और परिवर्तनशील है, यही शिक्षा का विज्ञान है।

जब हम शिक्षा की बात करते हैं तो हमारा आशय शिक्षा की हर धारा से है। साक्षरता और सतत शिक्षा तथा स्कूली एवं विश्वविद्यालयी उच्च (?) शिक्षा भी। प्रश्न यह है कि शिक्षा स्वयं सीखना क्यों बंद करे? अपने ही समाज की दिन प्रतिदिन बदलती मानवी स्थितियों का अध्ययन क्यों बंद करे? सामाजिक ताने बाने में अपनी ही आंतरिक अथवा बाहरी चोटों से

पड़ती दरारों की मरम्मत करना कैसे सीखे? कोई ऐसी सीमेंट बनाना क्यों नहीं सीखे जो मानवी रिश्तों को मजबूत बनाती हो और समाज को दरकने चिटकने से बचाती हो? समूची मानवी सभ्यता की सांस्कृतिक विविधता के अपने रंग और रस का आनंद लेना क्यों नहीं सीखे? स्थानीय सांस्कृतिक तथा भाषाई विविधता की सारी छटाओं का आनंद लेना क्यों नहीं सीखे? अंतर्राष्ट्रीय मानकों तथा विश्वस्तरों की थोथी दुहाई देना क्यों नहीं बंद करे?

हम हमारे समाज की अपनी आतंरिक सर-सब्जता के साथ विश्व की रचना करते हैं—विश्व कभी समाजों को नहीं रचता। यही सब शिक्षा को सीखना है।

अपनी समूची प्रयोगधर्मिता के साथ निरंतर सीखना ही शिक्षा का विज्ञान है। हर शिक्षार्थी की जिज्ञासा को जिन्दा रखना तथा मन में प्रतिपल उठने वाले सवालों का पोषण करना ही शिक्षा का विज्ञान है। सवाल मर न जायें और विद्यार्थी मूक न हो जायें यह शिक्षा को देखना है।

एक और बात है कि शिक्षा ऐसे विज्ञान के साथ अनवरत इस प्रयास में रत रहती है कि कोई भी विज्ञान कल आदमी की सम्पूर्ण सभ्यता पर हावी न हो जाये। विज्ञान की आक्रामकता को कम करना शिक्षा के विज्ञान का काम है। विज्ञान को केवल विज्ञान की राह पर चलाना शिक्षा का विज्ञान है। शिक्षा का विज्ञान हर विद्यार्थी को विज्ञान के अंहकार के प्रति सजग करता है। उसके हिंसक रूप को नहीं स्वीकारने का विवेक देता है। इतना हौसला देता है कि विज्ञान की मनुष्य विरोधी महत्वाकांक्षाओं पर वह अंकुश लगा सके।

महत्वाकांक्षा तो वैसे भी बुरी होती है इसलिए प्रश्न यह है कि विज्ञान महत्वाकांक्षी क्यों बने?

सच तो यह भी है कि सत्य को जानने, समझने, पाने और फिर उसका विशुद्ध लोकोन्मुखी उपयोग करने की सारी आकांक्षा अन्तर्मुखी होती है, बाह्योन्मुखी नहीं होती।

सत्य कभी भी बिखेरने और बिछाने की वस्तु नहीं होती, बल्कि जीने, जिलाने और जीवन को अनुप्राणित करने की वस्तु होती है। मगर यह तब सम्भव है जब किसी ने सत्य को जान लिया हो अथवा पा लिया हो।

मैं ने न सत्य को पाया है और न जाना है। न ही मैं यह जानता हूं कि जो मैं कह रहा हूं उसमें भी कितनी सच्चाई है। यह सिर्फ एक **संलाप** है

अथवा **लाउड थिंकिंग** है। गरज सिर्फ यही है कि मैं अपने चिन्तन में आपको साथ ले लेना चाहता हूं या फिर आपको भी ऐसे ही चिंतन की ओर प्रवृत्त करना चाहता हूं। लगभग पचास बरस पहले गुजराती साप्ताहिक **निरीक्षक** के संपादक, गुजराती के वरिष्ठ शिक्षाविद् एवं साहित्यकार **भाई उमाशंकर जोशी** ने अपने एक संपादकीय में एक आह्वान किया था—**सहचिंतनम् करवावहै।** यह आह्वान हमारी उस सनातन प्रार्थना के सातत्य में किया गया था जो कहती है—**सह नाववतु, सहनौ भुनक्तु, सह वीर्यम् करवावहे**। तो निवेदन मेरा सिर्फ यह है कि हम सोचना शुरू करें। साथ-साथ सोचना शुरू करें। खोजना शुरू करें और सत्य को पाने की यात्रा में सभी सहयात्री बन जावें। यही यात्रा शिक्षा के विज्ञान की यात्रा है।

सच पूछें तो विचार ही शिक्षा का सार है। सीखने वालों का समूचा समाज निरंतर विचारवान बना रहे और कभी भी विचार शून्य न बने यही शिक्षा के विज्ञान की चुनौति है।

इसके साथ यह भी सोचा जा सकता है कि शिक्षा का विज्ञान शिक्षा के तत्वज्ञान की रक्षा का नाम है क्या? यह प्रश्न इसलिए है कि आज शिक्षा अपनी तात्त्विक सच्चाइयों से बहुत दूर चली गयी है। जब तत्त्व विलुप्त हो जाता है तो कोई भी काम प्राणहीन हो जाता है। निष्प्राण हो जाता है। आज स्थिति यही है कि शिक्षा का एक निष्प्राण ढांचा अपनी समूची निरीहता के साथ नौकरशाही की बैसाखियों के सहारे किसी तरह घिसटता चला जा रहा है। जिस शिक्षा को समाज को तेजस्विता देनी थी वही शिक्षा निस्तेज हो गयी है। जो शिक्षा आलोक बिखेरने के लिए खड़ी हुई थी वही शिक्षा किसी अंधेरे में भटक रही है। ऐसा क्यों हो गया है? इस प्रश्न की विवेचना भी शिक्षा का विज्ञान हो सकता है।

पूछना हमें यही है कि क्या शिक्षा के इन तमाम पहलुओं को हमारे शिक्षक-प्रशिक्षण विद्यालयों में पढ़ाया जा रहा है? क्या आज के शिक्षक शिक्षा की इस वर्तमान स्थिति से परिचित हैं? क्या उनके मन में यह प्रश्न उठता है कि शिक्षा आज इतनी निरीह और निष्प्राण क्यों हो गयी है?

आज अन्याय का प्रतिकार करने वाले, शोषण के खिलाफ खड़े होने वाले और मानवीय गरिमा की रक्षा करने वाले तेजस्वी छात्रों की फौज शिक्षा क्यों नहीं खड़ी कर पा रही है? बालक क्यों अत्याचार सहने को अभिशप्त हैं? औरतें पग-पग पर क्यों अपमानित होती हैं? भ्रष्टाचार क्यों सुरसा के मुंह की तरह फैल रहा है? समाज में हिंसा किस कदर अपना नंगा नाच दिखा

रही है? कितना आत्मकेंद्रित हो गया है आदमी? अपने शुद्ध स्वार्थ के वशीभूत हो कर हम किस निर्ममता के साथ कुदरत के सारे संसाधनों का दोहन कर रहे हैं। किस क्रूरता के साथ हम कत्लखानों से मुनाफा कमा रहे हैं? दवा और इलाज का बाजार भी अंधाधुंध पनप रहा है। बाजार अपनी मर्यादाओं को भूल कर कैसे समाज पर हावी हो गया है? करोड़ों गरीब लोग कैसा अर्द्ध-मानवी जीवन जीने को अभिशप्त हैं? सारे अध्यापक स्वाध्याय के धर्म को क्यों भूल गये हैं? न्यायालयों में भी न्याय क्यों विलंबित है?

इतने सारे सवाल आज शिक्षा का नया विज्ञान रचने को काफी नहीं हैं क्या? ❑

फरवरी-2010

भारती जय, विजय करे!

भारत इस देश का नाम है तो भारती इस देश की हर महिला का नाम है। इस देश की महिलाएं यदि भरत और सत्यवान की जननी रही हैं तो भारत देश की जननी भी रही हैं। हमारी यह 'अपनी बात', जो कि एक संपादकीय टीप है, इस देश की महिलाओं को सादर निवेदित है।

यह निवेदन हार्दिक बधाई के साथ है। बधाई इस बात की कि देश की महिलाओं के लिए संसद में पहली बार एक वैधानिक स्थान सुरक्षित हुआ है। हम उसे आरक्षित नहीं कह रहे हैं। पाठक कृपया इस बात पर गौर करें। यह दरअसल उनका हक था जो उनको देर से मिला है। न केवल संसद बल्कि समूचे देश पर पहला अधिकार देश की महिला का है क्योंकि वह देश की जननी है। हम नतविनत होकर सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ भारत की हर महिला को प्रणाम करते हैं और विश्वास व्यक्त करते हैं कि जय सदा उन्हीं की होगी। देश के शीर्ष कवि निराला के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं *'भारती, जय, विजय करे!'*

यह संपादकीय टीप देश की उस हर महिला को समर्पित है जो **मदर टेरेसा** भी बन सकती है और जो **आण्डाल, ललेश्वरी, बहिणाबाई, रूपाबाई, सहजो** और **मीरां** भी बन सकती है। वह **अरुणाराय, इलाबेन भट्ट** भी बन सकती है, **शांता सिन्हा** भी बन सकती है और पीछे मुड़कर देखें तो **बा कस्तूरबा** भी बन सकती है। इससे और भी पीछे मुड़कर देखें तो वह **सत्यवान** की पत्नी **सावित्री** भी बन सकती है और **सत्यका**म की मां **जाबाला** भी बन सकती है। अर्ज सिर्फ यह है कि इस देश की स्त्रियों ने सदियों से जिस अदम्य शक्ति, ऊर्जा और सृजनात्मकता का परिचय दिया है उस परम्परा में इस देश में *स्त्री-विमर्श* का स्वरूप कुछ और होना चाहिये था। **विनोबाजी** ने उसे पहचाना था। उन्होंने एक छोटी सी और बहुत कम कीमत की किताब लिखी थी, जिसका नाम था-***स्त्री-शक्ति***। पाठकों से हमारा निवेदन है कि आज भी *स्त्री-शक्ति* को उठाकर जरा देख लें, पढ़ लें और भारतीय महिलाओं की एक सुचिंतित छवि अपने मन में उतार लें।

यह एक अलग बात है कि स्त्री-विमर्श के नाम से अथवा स्त्री-आंदोलनों के मार्फत हमने बहुत सारी नयी धाराओं का परिचय पाया है। वे धाराएं पश्चिम की ओर से आयी हैं। उन्हें आना भी चाहिए था। वैसे भी हम अपने मन की सारी खिड़कियों को खुला रखना चाहते हैं और तरोताजा करने वाली हर हवा को हर दिशा से आने देने के लिए आतुर रहते हैं। अभी सिर्फ नामोल्लेख के लिए जिक्र कर देते हैं कि हमने **फ्लोरेंस नाइटिंगेल** से भी प्रेरणा पायी है और **मादाम क्यूरी** से भी। जॉन ऑफ आर्क से लेकर **सिमोन द बुआ, जर्मेन ग्रीयर** और **आयन रैण्ड** जैसी लेखिकाओं ने हमको प्रभावित किया है। मगर हमने देखा है कि उधर से आने वाली हवाएं भी बार-बार बदलती रही हैं। उन्हें बदलना भी चाहिए क्योंकि यही मानवीय सभ्यता के विकास का तकाजा है।

आज हमारे सामने दो अवसर हैं—पहला तो *साक्षर-भारत* के अन्तर्गत महिलाओं की सतत शिक्षा का एक सुचिंतित और कारगर प्रयास और दूसरा संसद में जाने वाली महिलाओं के साथ एक ऐसा सार्थक संवाद जो उनकी सतत शिक्षा भी सुनिश्चित कर सके। इन दोनों अवसरों के लिए भारत के मानव संसाधन विकास मंत्रालय से विशेष प्रबन्ध की अपेक्षा हम कर सकते हैं और स्वयं अपने आपको भी इस दिशा में किसी सार्थक प्रयास के लिए तैयार कर सकते हैं। हमें ऐसा करना ही चाहिए।

मगर, उससे भी पहले यह जरूरी है कि हम देश की हर महिला के प्रति अपनी सम्पूर्ण आस्था व्यक्त करें। विश्वास व्यक्त करें और उन दकियानूसी मान्यताओं से वे मुक्ति पायें जो स्त्री को सिर्फ अबला मानती थीं। दूसरी जरूरत यह भी है कि अब हम अपने लोभ में अंधे हुए बाजार को आगाह कर दें कि स्त्रियों की छवि को अपना सामान बेचने के लिए धूमिल न करे। हर औरत की हस्ती को पहचाने। मीडिया पर भी कोई अंकुश लगायें कि वह औरतों की संवेदनशीलता को भुनाये नहीं, उन्हें गुमराह न करे। न ही उनको अंधविश्वासों की नयी बेड़ियों में जकड़े। आइये, आज हम समाज में स्त्री की पुनर्प्रतिष्ठा करें तभी *साक्षर-भारत* को संचालित करने की उपादेयता सिद्ध हो सकेगी। अन्यथा वह भी एक ढकोसला ही बन कर रह जायेगा। क्या हम इससे बच सकते हैं? ❑

मार्च, 2010

प्रिय रवि

मैं तुमसे मिला नहीं हूं मगर यह जानता हूं कि तुम सच्चे मन से कोई कारगर काम करना चाहते हो। अपने जीवन को सामाजिक बदलाव के किसी प्रभावी काम से जोड़ देना चाहते हो। जैसा कि मुझे गुनगुन ने बताया कि तुम बचपन के पैरोकार बनकर बालकों की शिक्षा के काम में जुटे हो। यह यदि सच है तो आगे के सारे रास्ते खुले हैं। हमें अपने आपसे सिर्फ यह पूछना है कि हम ऐसा क्यों करना चाहते हैं? किसके कहने से करना चाहते हैं यह काम? किसको संबोधित है हमारा काम? ऐसे कुछ प्रारंभिक मगर मूल प्रश्नों का हमें सामना करना चाहिए।

हम जो भी करें हमें अपने आपसे यह पूछना चाहिए कि 'मेरा काम क्या मेरी रूहानी जरूरत है?''क्या यह काम मेरी निजी अनिवार्यता है?' यदि हां तो मार्ग और भी आसान है। तुम्हें कोई रोकेगा नहीं, रोक सकेगा भी नहीं। बिना आंतरिक एवं निजी प्रतिबद्धता के यदि हम किसी काम में जुटते हैं तो वह एक 'दिया हुआ काम' हो जाता है। ऐसे काम में हम सिर्फ 'कर्ता' हैं 'निर्माता या रचना करने वाले' नहीं।

हमें काम इस भावना और विश्वास के साथ करना है कि हम स्वयं रचनाकार हैं। स्वयं अपने काम के नियंता हैं। नियामक हैं। तब फिर यह काम प्रतिपल, हर कदम पर हमें रचेगा। काम हमारी रचना करता है। ऐसे काम की प्रक्रिया में हमारी 'ग्रोथ' सुनिश्चित है। तब काम हमारे लिए आनंद है। जॉय है। ब्लिस है। परिपूरित करने वाला अनुभव है। क्या तुम्हें ऐसा अनुभव कभी हुआ है? सोचना। विचारना। लिखना।

बालकों की शिक्षा का काम आसान नहीं है। यह एक जोखिम भरा काम भी है। बालक तुम्हारे हाथ में एक कांच का बर्तन है। तुम्हारी अपनी असावधानी से गिरा तो टूट जायेगा। सच मानो कि बालक तुम्हारे सामने गमले में कल ही प्रस्फुटित हुआ एक बिरवा है। हवा, पानी, रोशनी और आवश्यक गरमाहट उसकी पहली जरूरत है। किसी भी तरह की असावधानी से यह बिरवा कल पौधा नहीं बन सकेगा।

हर बिरवे का, हर अंकुर का अपना एक अलग ही वजूद होता है। उसकी अपनी एक अस्मिता होती है। आध्यात्मिक अस्मिता। उसकी अपनी यह निजता उसकी जिजीविषा का उत्स होती है। स्रोत होती है। हिन्दी के वरिष्ठ कवि अज्ञेय की कविता की एक पंक्ति है:-

'यह अंकुर : फोड़ धरा को रवि को तकता निर्भय'।

यह सिर्फ एक संयोग है रवि, कि वहां उस कविता में रवि सूरज है और यहां तुम हो। मगर देखने की बात वह निर्भीकता है जो उस अंकुर को सूरज का सामना करने का साहस देती है। यह अभय उसे जन्म से ही से मिल जाता है। हमें अगर कुछ करना है तो वह है **'भय-वर्जन'**।

मगर अगला सवाल तुम्हें स्वयं अपने से करना है। तुम्हें अपने आपसे पूछना है कि तुम्हारे पास थोड़ी सी स्नेह भरी हवा है क्या? ध्यान रखना कि बिरवे की जरूरत नेह-भरी प्राण वायु है; कोई आंधी का झोंका उसकी जरूरत नहीं है। तुम्हें अपने आपसे पूछना है कि तुम्हारे पास 'पानी' है क्या? तुम्हें नहीं केवल, हम सबको अपने आपसे पूछना है कि हमारे पास पानी है क्या? पानी में यदि आर्द्रता है तो गरमाहट भी। पानी में यदि प्यास बुझाने की क्षमता होती है तो प्यास जगाने की अकुलाहट भी। प्यास को जगाना और बुझाना दोनों ही पानी के काम है रवि ! पानी का दूसरा नाम आब है। इसी आब से पंजाब बना था। हमारा पंजाब। आब का अर्थ चमक होता है। रोशनी होता है। अगर हमारे पास यह आब वाला पानी नहीं है तो कल सारे बालक बेआब होंगे। क्या तुम इस खतरे के प्रति सजग हो?

बिरवे को बूंद-बूंद पानी चाहिए। कोई नल, नाला या परनाला नहीं। नन्हें से बिरवे को जिंदा रखना हो तो उसे दिये जाने वाले पानी की भी एक अदब होती है, होनी चाहिए। यदि हमारे पानी में यह अदब नहीं हुई तो कल सारे बालक बेअदब होंगे। उनका तब कोई दोष नहीं होगा। ऐसे खतरे के प्रति हमें सावचेत रहना चाहिए। पूछना चाहिए कि ऐसा पानी, ऐसी आब और ऐसी अदब हमारे पास शेष रह गयी है क्या? हमें अपने आपको तलाशना होगा। अपनी ही पड़ताल करनी होगी।

बालक रूपी बिरवे की तीसरी जरूरत रोशनी है रवि ! धूप है। झुलसा देने वाली धूप नहीं-जिंदा रखने वाली धूप। मगर उससे भी पहले बालक को रोशनी चाहिए वह रोशनी हमारे पास है क्या? बच गयी है क्या? जानते हो यह रोशनी कौन सी है? कभी सोचकर देखो कि कबीर ने क्या कहा था? नानक ने क्या कहा था? कबीर कह गये 'एक ज्योति संसारा' और नानक

कह गये 'एक नूर तैं सब जग उपज्या।' यह एक ज्योति कौन सी है जिससे सारा संसार रौशन है? यह एक नूर कौन सा है जिससे सारा जगत उपजा है। इसी नूर का मोहताज है आज धरती का हर बालक। क्या हम ऐसी रोशनी उसे दे सकेंगे? सोचना, यदि हम ऐसा नूर नहीं दे सके अपने बालकों को, तो कल सारा जगत बेनूर होगा। अब तुम समझ लो कि हम कैसे और कितने जोखिम भरे काम में लगे हैं !!!

बालक की अंतिम जरूरत गरमाहट है। रिश्तों की गरमाहट। नेह की ऊष्मा। 'वॉर्म्थ'। इंसानी उदारता की गरमाहट, निकटता की गरमाहट। हां, रवि बालकों को फासले अच्छे नहीं लगते। बचपन से उन्हें गोदी में आना अच्छा लगता है। बच्चा-गाड़ी मे लिटा कर कोई उनको सैर कराये यह उनको नहीं सुहाता। छाती से लिपटा रहना, कंधे पर चढ़ना, गोदी में रहना उन्हें बहुत सुहाता है। तो वे करीबी चाहते हैं। दूरी नहीं। करीबी में गरमाहट है। हमें पूछना है कि यह गरमाहट हमारे पास है क्या?

इतने सारे सवाल, इस तरह से मैं जब पूछ रहा हूं तो यह भी कह रहा हूं कि बालकों के साथ काम करने से पहले अपने आपको तैयार करना होगा। सीखना होगा। यह समझना होगा कि बचपन किसे कहते हैं? हमें यह जानना होगा कि बचपन हमें क्या दे सकता है? एक छोटे से छोटें बालक के साथ रहकर, पूरे प्यार के साथ उसे चाहते हुए उसके स्पर्श से हम क्या पा सकते हैं? इसकी हमें अनुभूति करनी होगी।

मेरी एक पुस्तक है—*शिक्षा की परीक्षा*। उसकी एक प्रति इस पत्र के साथ भेज रहा हूं। उस पुस्तक में मैंने बचपन को व्याख्यायित किया है। परिभाषित करने का प्रयास किया है। आज हमें हर कोशिश करके अपना दिल टटोलना चाहिए कि हमारे दिल में बालक के लिए कितना स्थान है? हमारे घर में बालक के लिए कितना स्थान है? बीस बरस पहले मैंने एक लेख लिखा था—*'यहां क्या है बच्चों के लिए?'* उसकी प्रति मिल गयी तो भेजूंगा। पढ़ना।

हमारे काम की पहली जरूरत स्वाध्याय है। बिना अध्ययन के हमारी दृष्टि स्पष्ट नहीं होगी। अध्ययन हमारे काम का आधार होना चाहिए। हमें सबसे पहले हमारा अपना एक पाठ्यक्रम बनाना चाहिए। तय करना चाहिए कि हमें क्या पढ़ना है? क्यों पढ़ना है?

पढ़ने के बाद हमें विचार के लिए अवकाश निकालना चाहिए। क्या तुमने कभी ऐसा किया है? हां, विचार करना भी एक काम है। विचार से हमारी संवेदनाओं को पोषण मिलता है। हमारा संकल्प घनीभूत होता है। तब हम एक सुचिंतित एवं तर्क-सम्मत मार्ग बनाते हैं। इस मार्ग में हमें अपने ही विचारों का निरंतर संबल मिलता है। तब हम स्वयं सुलझते हुए अपना काम संपन्न करते हैं।

अब तुम्हारे कुछ सवालों के जवाब :

बालक से हमें सीखना है। उससे भी ज्यादा उसके साथ से अपने आपको संपन्न बनाना है।

अध्यापन करने वाले स्वयं पहले सीखने वाले बनें। स्वाध्यायी बनें। बाल-वत्सल बनें। पहले स्वयं बालोन्मुखी बनें और फिर उनकी शिक्षा को बालोन्मुखी बनायें। शिक्षा को समाजोन्मुखी बनाना भूल होगी। शिक्षा को शिल्पोन्मुखी बनाना है। सृजनोन्मुखी बनाना है, मगर व्यवसायोन्मुखी नहीं बनाना है। शिक्षा को अर्थोन्मुखी कत्तई नहीं बनाना है। विचार करना कि मैं ऐसा क्यों कह रहा हूं।

बालक कोई रेखागणितीय ढांचा नहीं है। बेस लाइन और एन्ड-लाइन की बात रेखा गणित में हो सकती है किसी गुलाब, चमेली या जूही में नहीं।

सुगंध को, सुवास को, रूप को, रंग को, हंसी को, खुशी को और आनंद को तौलने की कोई इकाई अभी तक नहीं बनी है। तो बालक का मूल्यांकन भी अकल्पनीय है। सोचना क्यों? ❑

❖❖❖

रवि मुंबई में रहते हैं। *नांदी फाउंडेशन* में काम करते हैं। बालकों की शिक्षा का काम। रवि के मन में शिक्षा के काम को लेकर ढेर सारे सवाल हैं। वे अपने सवाल इंटरनैट पर मुझ से पूछते हैं। उनके सवालों में सीखने की आत्मीयता झलकती है। मैं इन सवालों का जवाब ई-मेल पर नहीं दे सकता था इसलिये यह पत्र। उनको डाक से भेजे गये पत्र में थोड़ा कुछ जोड़ कर अनौपचारिका के पाठकों के लिए प्रस्तुत है यह संशोधित पत्र। एक शैक्षिक संवाद के लिए। अब पाठकों के पत्रों की प्रतीक्षा रहेगी। ❑

अप्रेल, 2010

सीखना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है

प्रसंग भारत सरकार द्वारा दिये गये **शिक्षा के अधिकार** का है। इस पूरे अंक में वही चर्चा है। उसी की विवेचना है और यही चिन्ता है कि यह कानून कैसे कारगर तरीके से क्रियान्वित होगा!

सीखने की जरूरत को मौलिक अधिकार (?) बना देने वाले कानून की चर्चा करने से पहले यह पूछ लेना जरूरी है कि यदि हम नहीं सीखने की ठान लें तो कौन माई का लाल हमें कुछ सिखा सकता है? इसे ऐसे भी पूछ सकते हैं कि हम यदि शिक्षित होना ही नहीं चाहें तो शिक्षा को भला जबरन हमारे गले कौन उतार सकता है? इन प्रश्नों के उत्तर तो आसान नहीं है मगर यदि हम यह पूछें कि देश के बालकों और किशोरों की आधी से अधिक जनसंख्या यदि रोटी की मोहताज है तो वे शिक्षा का अधिकार किस ताकत से मांगेगे? माना की यह सरकार का काम है कि वह उन्हें शिक्षित करे लेकिन कब करे? यह एक बड़ा सवाल है। सवाल यह है कि शिक्षा रोटी से पहले या रोटी के बाद हो। शिक्षा सिर पर छप्पर से पहले याकि बाद में? शिक्षा तन पर कपड़ों से पहले याकि बाद में? प्रश्न यह है कि खुले आसमान के नीचे गुजर बसर करने को मजबूर लोगों के लिये हम कौनसी प्राथमिकता तय करें?

चलिये, एक बार इन सारे सवालों को भी किसी आलमारी में रख देते हैं। फिलहाल नजर अंदाज कर देते हैं और **माईबाप सरकार** को धन्यवाद देते हुए कहते हैं कि **हुजूर बड़ी मेहरबानी आपकी कि आप शिक्षा को हाथ में लिये हमारे द्वारे चले आये।** हुजूर यह तो बड़ी कृपा की आपने कि आप शिक्षा को तश्तरी में परोस कर रख लाये मगर आप तो बड़े काबिल हैं, बहुत पढ़े-लिखे हैं, आलिम हैं अब हम भला आपको यह कैसे बतायें कि हमने तो सीखना तभी शुरू कर दिया था जब से आंख खोली थी। नंगे बदन सर्दी लगी तो हम जान गये थे मेहरबान, कि आप के राज में ठंड बहुत है और आपकी रियाया बस नंगे बदन ही गुजर करने को अभिशप्त है।

थोड़ी उम्र पाई तो महाराज, यह भी जान लिया था कि इस दुनिया की बहुत सारी सुविधाएं बस आप जैसे चन्द लोगों को नसीब हैं; हमारी किस्मत में तो खुला आसमान ही लिखा है। और इस खुले आसमान के नीचे पूरे ब्रह्मांड से निरन्तर सीखते रहने की एक पाठशाला सदा खुली है। जी, महाराज हम सूरज से सीखते हैं, हवा से सीखते हैं, पेड़ों से सीखते हैं, जानवरों से सीखते हैं, ठंडी बयार और गर्म लू से सीखते हैं, अपने नंगे बदन से सीखते हैं और आपके तन पर सजी बेशकीमती कपड़ों की पूरी दूकान से सीखते हैं। हमारे सीखने की शाला कभी बंद नहीं होती। क्या आपको भरोसा होगा कि हम भूख से भी सीखते हैं और आप अगर सचमुच जानना चाहें तो आपकी किताबों में लिखी गयी भूख की झूठी परिभाषा से बहुत दूर आपको भूख के सच्चे अर्थों से परिचित करवा सकते हैं। आप हम से पढ़ कर अगर कुछ लिखेंगे तो आपकी किताबें झूठी नहीं होंगी महाराज! वैसे भी गरीबी, लाचारी, बेरोजगारी, बीमारी और सदियों से चली आ रही सियासत की चालाकी हमेशा कुछ सिखाती जो रहती है। हमारी शाला तो ऐसी ही है अब बताइये, आपका दिया अधिकार हमारे क्या काम आ जाने वाला है?

मगर, फिर भी मंजूर है महाराज कि हमारे पड़ोस में कल एक पाठशाला होगी। यह कितनी अच्छी बात है। पाठशाला नहीं होगी तो शिक्षा की एक बड़ी ऊंची लकदक दूकान होगी जहां हमसे कुछ ज्यादा अच्छे कपड़े पहने बड़े-बड़े साहब लोगों के बच्चे पढ़ते होंगे। ये कैसी और कितनी बड़ी मेहरबानी है महाराज, कि आपने हमारे लिये वहां 25-30 फीसदी सीटें आरक्षित करा दी हैं। हम थोड़े से सहम तो गये हैं कि इस बड़ी दूकान के मैनेजर लोग हमें भला क्या पढ़ायेंगे? और हमसे भला कौनसा मुनाफा कमायेंगे। मगर आपने यह बहुत अच्छा किया कि उनका मुनाफा उनके हाथ में पहले ही रख देने का सरकारी निर्णय कर लिया। आप कितने अच्छे हैं कि मुनाफे कि चिन्ता पहले करते हैं ! मगर उनके मुनाफे में इजाफा करने की भला आपको क्या सूझी? हमसे अगर पूछ भी लिया होता तो हम कहते कि उस ऊंची दूकान में हम नहीं पढ़ेंगे मगर आपकी जम्हूरियत में अपनी रियाया से पूछने का रिवाज ही भला कहां है? यह अलबत्ते एक अलग बात है कि कल आपको चुनकर हमने ही भेजा था मगर अब गलती तो हमारी है कि हम भूल गये कि हमारा वोट आप ही के काम आने वाला था।

यह एक बड़ी अनबूझ पहेली है कि हम शिक्षा किसे कहें? घूम फिर के शिक्षा तो वही कहलाती है न जो कक्षा में दी जाती है और परीक्षा जिस पर अपना ठप्पा लगा देती है। हमारे जैसे मेहनतकश लोगों की पीठ पर तो उस

ठप्पे की जरूरत आप सबको है मगर हम तो अपने रामजी से ही पूछते रहते हैं कि वे कौनसी चटशाल में पढ़ने गये थे और उनकी पीठ पर किसने ठप्पा लगाया? हां, महाराज आपकी तमाम परिभाषाओं के मुताबिक तो अल्लाह मियां भी अनपढ़ है। एक जरूरत है कि उसके दरबार में भी कोई पाठशाला खोल दे। कौन करेगा ऐसा?

पहेली तो यह पहेली ही रहेगी मगर हमारी जिद है कि हम शिक्षा केवल उसे ही कहेंगे जो कक्षाओं में दी जाती रहेगी। हमको हमारे गुरुजी बहुत याद आते हैं महाराज, जो कहा करते थे '**प्रात: काल व्हैठे भी व्है है जठे कूकड़ो नीं बोले....।**' तो पता तो हमें यह करना है कि शिक्षा क्या संस्थानों में ही होती है याकि उसके बाहर भी कहीं शिक्षा होती है। आपके पास भी सबूत है हुजूर कि अगर इल्म की बात करते हैं तो भी ताजमहल को बनाने वाले हाथ किसी विद्यालय में जाकर आलिम नहीं हुये थे। बहुत दूर क्यों जाते हैं—हमारे अपने राजस्थान से अभी कुछ बरस पहले झुंझुनू के किसी गांव से निकल पड़ने वाले घनश्यामदास बिड़ला आपके द्वारा खोले गये किसी विद्यालय में नहीं पढ़े थे। आज तो आप भी उनकी मेहनत और शोहरत के कायल हैं। हम तो उन्हें इसलिये भी प्रणाम कर लेते हैं कि वे पूंजीपति होते हुए भी महात्मा गांधी के साथ थे और उनके उसूलों में उतरकर डूब गये थे। बापू ने भी इतनी बड़ी कौम बनाने के लिये कोई विद्यालय नहीं खोला था महाराज, मगर फिर भी यह कैसे संभव हो गया कि देश के लाखों लोग सच्चे संकल्प के साथ महात्माजी के साथ हो लिये? मोतीलाल नेहरू जैसे अमीरों के अमीर भी खद्दर पहनने लगे थे और आचार्य कृपलानी जैसे विलायतों में पढ़े बड़े प्रोफेसर हाथ में गज लेकर कंधे पर खादी का थान रखकर गांव-गांव खादी बेचने लगे थे। आपसे सिर्फ एक ही सवाल है कि आपके द्वारा दिया गया शिक्षा का अधिकार क्या ऐसी फिजां फिर से पैदा कर सकेगा?

उस फिजां में तो लोगों ने लाठी गोली खायी थी, लहुलुहान होकर सड़कों पर गिरे थे मगर, किसी सुराजिए ने किसी अंग्रेज पुलिस अफसर पर हाथ नहीं उठाया था। आपको तो शायद याद नहीं होगा मगर इस देश में स्वामी श्रद्धानंद जैसे प्रखर सन्यासी की हत्या के बाद भी देश में अमन बना रहा था और कोई खून खराबा नहीं हुआ था। यह सब कैसे और किस शिक्षा से संभव हुआ यह तो आप विचार करें। मगर इस बात पर जरूर गौर करें कि आपकी शालाओं में कहीं तो **शन्नो** नाम की छोटी बच्ची को जान से मार डाला जाता है अथवा कहीं किसी ऊंची दूकान में अपने बेटे को पिटते देखकर किसी मां के प्राण पंखेरु उड़ जाते हैं। उधर बंगाल के शिक्षा मंत्री अपनी लाचारी दिखाते हुये शिक्षा की किसी बड़ी दूकान में चल रही हिंसा के बारे में चुप रहते हैं और बड़ी निरीहता के साथ कहते हैं—मैं भला क्या कर सकता हूं? अब ऐसे हालात जहां पर हैं वहां आपका कानून कहता है कि शालाओं में शारीरिक दंड एक अपराध होगा और दंडनीय अपराध होगा ! हमारी समझ से तो बहुत परे की बात है यह कि जो शिक्षा अपने आंतरिक स्वभाव से ही हिंसक है वह भला मानसिक एवं शारीरिक प्रताड़ना को दंडनीय कैसे मानेगी? जहां प्रतियोगिताओं को इतना महिमामंडित किया जाता है कि विद्यार्थी का हर प्रतियोगिता में टॉप करना ही अपेक्षित हो वहां भला कोई यह कैसे उम्मीद करेगा कि यह शिक्षा कभी किसी सहयोगी एवं सहानुभूतिपूर्ण समाज की रचना करेगी? कानून सिर्फ यह कहता है कि कक्षा में हिंसा दंडनीय होगी मगर आप ही विचार करें कि दंड से हिंसा का दमन कैसे संभव है? दंड भी तो हिंसा ही है सरकार! अब भला आप ही सोचिए कि हिंसा का हिंसा से इलाज कैसे संभव है? इस पर तो राष्ट्रीय स्तर पर बहुत विस्तार से विचार होना चाहिये।

विचार की बात आते ही यह पूछने को मन करता है कि शिक्षा के अधिकार का नया कानून छात्रों को विचार करना सिखाता है क्या? क्या विचारवान और विवेकवान बनना यहां पहली प्राथमिकता है याकि सबको पीछे छोड़ते हुए सम्पूर्ण स्वार्थ की भावना के साथ सिर्फ बुद्धिमान बनते हुए आगे बढ जाना ही हमारी शिक्षा की प्राथमिकता है!! ❑

मई-जून, 2010

शिक्षा में हिंसा

आज जब हम शिक्षा में अभय और अहिंसा को तलाशने की कोशिश करते हैं तो हमें कदम-कदम पर हिंसा रास्ते के कांटों की तरह बिछी हुई मिलती है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं है। शिक्षा के शिल्पकार इसे जानते हैं। वे सत्य की तलाश करने के लिए बड़ी सहजता के साथ हिंसा का रास्ता चुन लेते हैं। मेढ़क की आंतरिक शारीरिक संरचना क्या है? इसे जानने के लिए अब तक जाने कितने करोड़ मेढ़क मारे गये होंगे। वनस्पति शास्त्र के विद्यार्थी फूलों तक की चीर-फाड़ करके देखते हैं और वे जो देखते हैं उसमें उनके मन में फूल की सुगंध, रूप, रंग आदि कहीं नहीं होता। पंखुड़ियों की स्निग्धता और उनसे बनी मनभावन आकृतियों से वे मुग्ध नहीं होते हैं। उनका मकसद केवल फूलों की आंतरिक संरचना को समझना है और जो किताब में लिखा है उसे आंखों से देख लेना है।

इसे शिक्षा की एक पद्धति के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। इस पद्धति में सारी ज्ञान-मीमांसा चाक्षुष बिम्बों पर टिकी है अथवा किसी को छू कर जान लेने के स्थूल इम्पिरीकल अनुभव पर टिकी है। सारा जोर आंखों देखे सच पर है। प्रत्यक्ष ही यहां प्रमाण है। यहां कोई यह प्रश्न कर सकता है कि समझ के अथवा ज्ञान के आंतरिक अर्थ क्या हैं? ऐसा कब और कैसे संभव होता है जब कोई ज्ञान हमारे आचार-विचार का अभिन्न अंग बन जाता है? उस समग्र अनुभूति के अर्थ क्या हैं जो आदमी को परमानंद की स्थिति तक ले जाती है अथवा किसी **सूरदास** को सब कुछ देख लेने का सामर्थ्य देती है? ऐसे कुछ बुनियादी सवालों को आज की शिक्षा दर-किनार करती चलती है और अपने ही तौर-तरीकों के ऊहा-पोह में उलझती जा रही है। इतना ही नहीं कई और कारण हैं कि आज शिक्षा में हर जगह हिंसा ही हिंसा दिखाई देती है।

यह संपादकीय मई-जून 2010 की अनौपचारिका में प्रकाशित नहीं हुआ था। मई-जून 2010 का अंक शिक्षा के अधिकार पर विशेषांक था। उसमें जो संपादकीय छपे थे वे भी अगले पृष्ठों पर देखें। एक संपादक के

चिंतन की धारा कैसे हिलोरें लेती बहती है—इसका यह साक्षात प्रमाण है। पाठकों को अपनी चिंतन प्रक्रिया से अवगत कराने की दृष्टि से ही इसको यहां सम्मिलित किया गया है।

शिक्षा के उद्देश्यों पर गौर करें तो हम पाते हैं कि शिक्षा का आंतरिक उद्देश्य तो अमन और अहिंसा की स्थापना है। प्रेम और परस्पर मैत्रीमय सहजीवन की स्थापना है, मगर स्थिति इससे कुछ अलग है। विपरीत है। ऐसा क्यों हैं; इसे जान लेने के लिए दरअसल बड़ी गहरी और सजग छानबीन की आवश्यकता है। ऊपर सतह पर जो जैसा नजर आ रहा है वैसा है नहीं। पड़ताल इसीलिये जरूरी है।

शिक्षा का अर्थ आज स्कूलों, कॉलेजों, विश्वविद्यालयों एवं शिक्षा की तमाम तकनीकी और गैर तकनीकी संस्थाओं में दी जा रही तथाकथित शिक्षा से है। यह एक विडम्बना है कि शिक्षा का अर्थ वहीं तक सीमित कर दिया गया है। आदमी काम करते हुए, समाज में रहते हुए, कुदरत से एवं परस्पर सहजीवन से अथवा अपने ही जीवन से आजीवन जो सीखता रहता है उसे आज शिक्षा में शुमार नहीं किया जा रहा है। जीवन को ही एक पाठशाला मान लेना और खरे खरे जीवानुभव को शिक्षा मान लेना आज की व्यवस्था को मंजूर नहीं है। यह अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है, मगर जिसे शिक्षा के रूप में स्वीकार किया जा रहा है वहां क्या हो रहा है?

ठीक से देखें तो पता चलता है कि छात्रों की किसी भी भागीदारी के बिना तैयार किये गये पाठ्यक्रमों को हर कक्षा अथवा कोर्स में आरोपित कर दिया गया है। जो छात्र फीस दे कर के जिस-जिस कोर्स में भरती होते हैं वहां सब कुछ उन पर आरोपित है। पहले पाठ्यक्रमानुसार पढ़ाई और फिर परीक्षा। परीक्षा में छात्रों को केवल पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देना है, उन्हें प्रश्न करने का कोई अधिकार नहीं है। अपनी जिज्ञासाओं को जता कर उत्तर पा लेने का कोई अवकाश नहीं है। पाठ्यक्रम के बाहर कुछ जानने की ज्ञान-पिपासा कहीं किसी छात्र में जग भी गयी हो तो उसे शांत करने का कोई अवसर नहीं है। यह स्थिति शिक्षा की छात्रों के प्रति पनपती यांत्रिक रिश्तेदारी एवं हिंसक बेरुखी की परिचायक है।

शिक्षा आज परीक्षा के बहाने प्रतिस्पर्द्धा को बढ़ावा दे रही है। सफलता को एक मानव मूल्य के रूप में स्थापित कर रही है। हकीक़त में सफलता कोई मानव मूल्य है ही नहीं। सफलता की अवधारणा ही मूलतया एक हिंसक अवधारणा है। **एक** जहां **सफल** होता है वहां **दूसरे** का **असफल** होना

अवश्यंभावी है। यदि कोई भी प्रक्रिया **एक** को **सफल** होने का अवसर **दूसरे** की **असफलता** के साथ सुनिश्चित करती है तो यह स्थिति एक सामाजिक हिंसा की स्थिति है। प्रकारान्तर से शिक्षा यहां द्वेष जगाने का काम करती है। ईर्ष्या जगाने का काम करती है। जबकि शिक्षा का मूल उद्देश्य मनुष्य को ईर्ष्या और द्वेष से मुक्त करते हुए परस्पर प्रेम सिखाना है। अभय देना है। शिक्षा यदि ऐसा नहीं करती है तो वह विद्यार्थी-विरोधी है। बाल-विरोधी है। हकीक़त में तो शिक्षा को सदावत्सल होना चाहिए था और वात्सल्य की अविरल धारा में बालकों को सींचते हुए चलना चाहिए था।

शिक्षा के इस सदावत्सल स्वरूप की अपेक्षा को ठेंगा दिखा कर आज की शालाएं इतनी हिंसक हो गयी हैं कि कक्षा में सजा पा कर **शन्नो** नाम की लड़की दिल्ली में दम तोड़ देती है। कभी उदयपुर में कोई छात्र मर जाता है तो कभी किसी शहर में कोई छात्रा अपाहिज हो जाती है। ग्रामीण स्कूलों में छात्र-छात्राओं को मुर्गा बना कर उनकी पीठ पर ईंटें रख दी जाती हैं और ईंट के गिर जाने पर फिर सजा की अगली क्रूरता तय की जाती है। गांवों की बात छोड़ भी दें तो कोलकात्ता व दिल्ली के लकदक स्कूल अपनी क्रूरता की मोहर खुद लगा चुके हैं। शारीरिक यातना देकर, भय से आक्रांत कर; सिखाने के इन तौर तरीकों को अपनाने वाले अध्यापकों की मन:स्थिति की जांच करानी चाहिए। उन कानूनों को विशुद्ध शैक्षिक व गैर-हिंसक तरीकों से लागू किया जाना चाहिए जो सजा को अपराध मानते हैं। आज **शिक्षा के अधिकार का कानून** बन जाने के बाद यह और भी जरूरी हो गया है।

आज शिक्षा द्वारा फैलायी जाने वाली प्रतिस्पर्द्धा और प्रतियोगिता छात्रों में कैसी मानसिकता का विकास करती है यह भी हमें ठीक से जान लेना चाहिए। इस मानसिकता के दो रूप हैं पहला रूप तो छात्र को विशुद्ध रूप से स्वार्थी और आत्मकेन्द्रित बनाने का रूप है। यहां परमार्थ की भावना के विकसित हो पाने की कोई गुंजाइश नहीं है। यहां परोपकार भी कोई मूल्य नहीं है। स्वार्थ और शुद्ध स्वार्थ सर्वोच्च प्राथमिकता है। इस स्वार्थ में लिप्त समाज कल किसी के काम नहीं आयेगा और केवल एक आत्मकेन्द्रित समाज की रचना करेगा जो अपने ही पतन की ओर जाने के लिए अभिशप्त होगा। क्या शिक्षा में संलग्न लोग इस दूरगामी परिणाम के प्रति सजग हैं?

प्रतिस्पर्द्धा की इस दौड़ में पीछे छूटने वाले छात्रों का एक अलग समाज विकसित हो रहा है और इसे आज साफ देखा जा सकता है कि [illegible] पिछड़े हुए छात्रों का यह समाज पूर्णतः हताशा और निराशा से ग्रस्त समाज होगा।

हृदयविदारक हताशा के शिकार **छात्रों द्वारा की जाने वाली** आत्महत्याओं की सूची दिनों दिन बढ़ रही **है**। कल **यह और बढ़ेगी और जो** छात्र आत्महत्या नहीं करेंगे उन छात्रों में एक खास तरह **की अपराध-वृत्ति** विकसित होगी जो कल समाज में विद्वेष और हिंसा **फैलायेगी**। **छात्रों की इस** जमात का मुख्य काम दुराचार और अनाचार में लिप्त **होना ही बस शेष रह** जायेगा।

आज के अधिसंख्य छात्र शिक्षा हासिल **नहीं कर रहे हैं बल्कि वे** इसे हथिया लेना सीख रहे हैं और फिर इस शिक्षा के **सहारे वे** उन सामाजिक अवसरों को भी हथिया रहे हैं जिन्हें सुविधापरस्त रोजगार **अथवा पैकेजेज** कहा जा रहा है। विचार हमें यह भी करना है कि शिक्षा में **शिक्षा के द्वारा ही** फैलाया गया भय भला सीखने का **मोटिवेटिंग फैक्टर कैसे हो सकता है**? सीखने की हर प्रक्रिया को दरअसल नैसर्गिक रूप से प्रेम करने की **प्रक्रिया ही** होना चाहिए था। तभी सीखने के आनन्द की कोई अनुभूति हो सकती थी। तभी कोई छात्र यह जान सकता था कि सीखना **बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय** की कोई प्रक्रिया है। यहां बुद्ध के उस उपदेश का स्मरण सर्वथा समीचीन होगा जहां वे कहते थे-'**चरत्थ भिक्खवे चारिके, बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय....**'

बहुजन के इस साहचर्य में एक सम्बल है, जो छात्र को न केवल भयभीत होने से बचाता है बल्कि उम्र भर के लिए अभय-दान देकर आश्वस्त करता है। इस प्रकार आश्वस्त हो जाने के बाद कोई छात्र अकेला नहीं होता बल्कि सबके साथ होता है और सब उसके साथ होते हैं। शिक्षा की ऐसी सच्ची प्रक्रिया तब **एलिएनेशन** को जन्म देने वाली प्रक्रिया नहीं होती। इस शिक्षा से गुजरा हुआ कोई भी छात्र कल अकेला नहीं होता। हर मुकाम पर लोग उसके साथ होते हैं। कुदरत भी उसके साथ होती है, मगर आज की शिक्षा ऐसा नहीं कर रही है। वह एक नयी तरह की हिंसा को जन्म दे रही है अथवा स्वयं अपने स्वभाव में ही हिंसक बनती जा रही है।

सांख्य दर्शन की ओर मुड़ कर देखें तो हम पायेंगे की हमारी पुरातन परम्परा में जानने की जिज्ञासा ही तीनों तरह के दु:खों की अनुभूति से उपजती थी। '**दुख:त्रयाभिघाता जिज्ञासा**' जैसे श्लोक से शुरु होने वाली **ईश्वरकृष्ण** की सांख्यकारिका शिक्षा में करुणा की नींव रखती थी। शिक्षा का सरोकार तब समाज को तीनों तरह के दु:खों से निजात दिलाना था। ऐसे समाज की रचना करना था जहां '**दैहिक देविक भौतिक ताप**' को कोई स्थान नहीं था। बुनियादी विश्वास यह था कि सच्ची जिज्ञासा [illegible] को सर्व से जोड़ती है, व्यष्टि को समष्टि का बोध देती है।

मूल प्रश्न यहां यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने लिये सीखता है अथवा समाज के लिए सीखता है? इससे भी आगे यह पूछा जा सकता है कि कोई भी छात्र जो शिक्षित हो रहा है वह रोजगार पाने के लिए शिक्षित हो रहा है अथवा रोजगार देने के लिए शिक्षित हो रहा है। हुनर तो वह है जो दूसरे हाथों को भी हुनर दे दे। अपने ही हाथों तक सीमित रहा हुनर और अपने ही काम आने वाला हुनर भला हुनर कैसे कहलायेगा? हुनर वैसे **स्किल** का नाम है— हाथों को बख्शे गये **रचने के इल्म** का नाम है। इस **इल्म** को जानने वाला कल **आलिम** होगा यह सच है, मगर दूसरा सच यह भी है कि जो **सच्चा आलिम** होता है वह तो **अलिफ** का **अ** सीखने के साथ-साथ **अल्ला मियां** का बेटा बन जाता है। स्वयं मोहम्मद हो जाता है। पाठको की सूचना के लिए बता रहा हूं कि **हिरा** नाम की गुफा में तप करते हुए **मोहम्मद साहब** को जब ज्ञान का पहला इलहाम हुआ तब अल्ला ताला ने यही फरमाया था—**इकरा बिस्मे, रब्बे कल्लवी** अर्थात् **पढ़, तूं अल्ला के नाम से पढ़।** सच बात तो यही है कि सच्चा पढ़ा लिखा आदमी स्वयं ईसा मसीह होने की सामर्थ्य रखता है और प्रकारान्तर से दैवीय गुणों को प्राप्त करता हुआ निरन्तर समाज का देवता बनने की ओर अग्रसर होता जाता है। प्रश्न दरअसल यह है कि सीखने वाला व्यक्ति कल सिर्फ लेने वाला बने अथवा देने वाला बने। वह स्वार्थ के लिए जीना सीखे अथवा परमार्थ के लिए जीना सीखे। परमार्थ मूल्य है, मानव मूल्य है। एक अहिंसक मूल्य है। जबकि स्वार्थ मूल्य नहीं है।

अब विचार की बात यह है कि आज की शिक्षा क्या कर रही है? क्या आज की शिक्षा बहुत दूर-दृष्टि के साथ परस्पर सहजीवन में छात्रों को दीक्षित कर रही है? क्या आज की शिक्षा अनन्त करुणा एवं अनन्त मैत्री के साथ एक दूसरे के लिए जीना सिखा रही है? क्या आज की शिक्षा निस्वार्थ रूप से निरन्तर एक-दूसरे से प्रेम करना सिखा रही है? क्या आज की शिक्षा अपनी ही आबादी में डूबती इस दुनिया में कल के आदमी को अपने ही एकाकीपन से बचाने का कोई उपक्रम कर रही है? क्या आज की शिक्षा छात्रों को एक स्थायी अभय देकर सच्चे सुखद जीवन के प्रति आश्वस्त कर रही है? क्या आज की शिक्षा प्रतिस्पर्द्धा से छात्रों को बचाती हुई कल कोई प्रतियोगी समाज न बनाकर सच्चा सहयोगी समाज बनाने में पारंगत कर रही है? इन तमाम प्रश्नों का उत्तर यदि नकारात्मक है तो विशुद्ध रूप से आज की शिक्षा का स्वरूप एक हिंसक स्वरूप है और वह हिंसा उसके स्वभाव में बुनी हुई है। ❑

जुलाई, 2010

नयी तालीम को आमंत्रण

आज मन करता है कि हम **नयी तालीम** को आमंत्रित करें। मन यह भी करता है कि **नयी तालीम** को फिर से भारत भूमि पर उतार लाने की हम पूरी तैयारी करें। कहीं कोई ऐसी शाला खोलें जहां सारे दरवाजे और खिड़कियां खुली हों। पूरी धूप हो, रोशनी हो, मिट्टी हो ,पानी हो, पेड़-पौधे हों, कहीं किसी कोने में कुछ औजार रखे हों, कहीं कोई करघा अपने ताने-बाने के साथ बुलाता खड़ा हो, इधर-उधर हर तरफ चरखे दीख जाते हों और यह सारी सामग्री बालकों को खुला आमंत्रण देती लगती हो। यह कुछ ऐसी सामग्री है जो किसी कक्षा को **नयी तालीम** की कक्षा बनाती है। यहां पर शिक्षा किसी बंद कमरे में सम्पन्न नहीं होती है। खुले वातावरण में बालक अपने आप कोई उद्यम करते हुए अपने ही ज्ञान को अनावृत करते हैं। यहां ज्ञान बच्चों की कमाई होता है। यहां ज्ञान किसी और का दिया हुआ कोई तोहफा नहीं होता।

मुझसे कोई पूछ सकता है कि **मैं नयी तालीम** को क्यों आमंत्रित करना चाहता हूं? कोई ऐसी भी चुटकी ले सकता है कि शिक्षा के अधिकार का कानून पारित हो जाने के बाद भी मैं ऐसा दिवास्वप्न क्यूं देखता हूं? उससे पहले कोई यह भी प्रश्न कर सकता है कि **नयी तालीम** आखिर है क्या? कोई **तालीम** जो साठ-सत्तर बरस पहले शुरू की गयी थी वह भला आज भी **नयी तालीम** क्यों मानी जाती है? ऐसे कुछ और भी प्रश्न हो सकते हैं। प्रश्न विचार के लिए अच्छे होते हैं। शिक्षा की बात विचार के साथ ही शुरू हो सकती है। विचार करते हुए हम पाते हैं कि **नयी तालीम** नयी इसलिए थी कि वह बोदी तालीम को बाहर करने के लिए रची गयी थी। बोदी तालीम वो थी जो अंग्रेजों ने भारत में पसारी थी। बहुत सोच-समझ के साथ इसका फैलाव किया गया था। मक़सद यह था कि अंग्रेजों को हमारे देश पर राज करने के लिये बहुत सारे अहलकारों और अफसरों की जरूरत थी। सो तो पूरी हुई थी मगर तालीम का बोदापन आजाद भारत में स्वत: सिद्ध हो गया था। अंग्रेजी राज के इरादों का पर्दाफाश हो गया था। बापू के आह्वान पर

औपचारिक शिक्षा को बीच में छोड़कर बाहर आये लाखों नौजवानों ने यह जग-जाहिर कर दिया था कि वे अंग्रेजी साम्राज्य के शैक्षिक प्रपंच को समझ गये हैं।

तभी यह सोचा गया था कि देश में स्वतंत्र, स्वाभिमानी और स्वावलम्बी नागरिक बनाने के लिये किसी **नयी तालीम** की शुरुआत करनी चाहिए। इस **नयी तालीम** की अवधारणा बापू की शिक्षा दृष्टि से उपजी थी। देश के दिग्गज चिंतकों एवं मनीषी लोगों ने इस अवधारणा को तराशा था। तब **नयी तालीम** की शुरुआत जगह-जगह हो भी गयी थी। उसका स्वागत भी हुआ था। मगर अपने ही देश के नौकरशाहों को यह **नयी तालीम** गवारा नहीं गुजरी थी। उनको अपने पांवों की जमीन कहीं खिसकती दीखी थी। यही वजह थी कि बहुत जल्दी ही **नयी तालीम** को न तो पांव जमाने का कोई मौका दिया गया और न ही उसे पनपने दिया गया।

आगे विचार करते हैं तो पाते हैं कि आजाद देश को भी नयी तरह के गुलामों की जरूरत थी। यह जरूरत ठीक वैसी ही थी जैसी अंग्रेजों को थी। सच यह था कि हमने राज बदला था, राजे महाराजे बदले थे मगर न हम स्वतंत्र हुए थे, न स्वराज आया था और न हमारा समाज बदला था। आजादी की लड़ाई की ओर मुड़कर देखते हैं तो हम पाते हैं कि महात्माजी की सारी जद्दोजहद राज के साथ समाज बदलने की थी। स्वयं उन्होंने अपने एकादश मूल्यों को जी कर एक मार्ग प्रशस्त किया था। आने वाले समाज का स्वरूप हमें शीशे में दिखा दिया था। उन्होंने हमें बता दिया था कि आजाद भारत का नया समाज कितना स्वाभिमानी होगा, कितना स्वतंत्र और कितना स्वावलम्बी होगा? उद्यम और शरीर श्रम उनके महामंत्र थे। वे समाज को भिखारी अथवा नौकर अथवा गुलाम नहीं बनाना चाहते थे। वे इस समाज को न सोचने वाला, न विचारने वाला कोई अचेतन अथवा निष्क्रिय समाज नहीं बनाना चाहते थे। नये भारत के नये समाज का उनका सपना एक सर्वथा जागृत, सर्वथा विचारवान, सर्वथा विवेकशील एवं अपने रोम-रोम से चेतन समाज का सपना था। **वे हर व्यक्ति का इतना चेतोविस्तार कर देना चाहते थे कि कोई कभी भी कूप मण्डूक न रहे, कोई कभी भी लकीर का फकीर न बने और कोई कभी भी अंधविश्वासी बनकर समाज की भौंडी कुरीतियों में फंसा न रह जाये। वे स्वतंत्रता को जीने वाला और दूसरे समाजों के लिए स्वतंत्रता की रचना करने वाला समाज बनाना चाहते थे।** ऐसा उन्होंने अपने जीवन में अपने साथियों के बीच करके दिखाया था। आजाद भारत में **नयी तालीम** की

शुरुआत इसीलिए की गयी थी कि हम महात्माजी के सपनों का समाज बना सकें और यह देश अपनी स्वतंत्रता को सच्चे अर्थों में जीना सीख सके।

यह बात आज भी खरी है। आज भी उतनी ही प्रासंगिक है। आज भी हमें **नयी तालीम** की जरूरत है। तब हमें फिर से नये संदर्भों में **नयी तालीम** को परिभाषित भी करना होगा और उसकी पुनर्व्याख्या भी करनी होगी। पहले तो हमें नये सिरे से यही समझना होगा कि आज की नयी तालीम का नया स्वरूप क्या होगा? जानना हमें यह भी होगा कि **नयी तालीम** का मूल स्वरूप क्या था? ऐसा जान लेने के बाद **नयी तालीम** के शास्त्रीय स्वरूप को बदले बिना नयी तालीम के नये स्वरूप की व्याख्या करनी होगी।

देखना हमें यह है कि नये संदर्भ क्या हैं? नये समाज पर नजर दौड़ाते ही पता लग जायेगा कि आज के भारत का समाज शहरी सभ्यता की ओर भागता हुआ समाज है। बाजारवाद की नयी दौड़ में हमारा समाज शरीक हो गया है। उसमें उपभोक्तावाद भी है और पूंजीवाद की प्रधानता तो है ही। आज महात्माजी का यह संदेश एक बार बहुत सच नहीं लगता है कि **भारत की आत्मा गांवों में बसती है**। इस संदेश की सच्चाई सर्वथा असंदिग्ध है मगर फिर भी गांवों को निगल जाने वाली शहरी सभ्यता सुरसा के मुंह की तरह फैलती-पसरती चली जा रही है। ऐसी स्थिति में गांव अपनी पहचान खो रहे हैं और उनकी आत्मा शहरों में भटकती दीखती है। हमारे अपने देश की मौलिक पहचान को बचाये रखने के लिये यह जरूरी है कि हम पहले गांवों को बचायें। ग्राम संस्कृति की रक्षा करें। जिस किसी हद तक एक-दूसरे के लिए जीने की भावना की रक्षा की जा सके उतना हमें कर लेना चाहिये। ऐसा सम्भव तभी हो सकता है जब हम **नयी तालीम** को पुनर्अवतरण के लिये आमंत्रित करें। तालीम के वर्तमान दुष्चक्र से इस समाज को बचा सकें।

वर्तमान तालीम का दुष्चक्र यह है कि वह प्रतियोगिता को बेतहाशा तवज्जो दे रही है। इस तालीम में एक-दूसरे को पीछे छोड़ देने की होड़ मची है। किसी के भी कंधे पर पांव रखकर ऊपर चढ़ जाने की होड़ मची है। इस होड़ में अपने साथ रहने वाले और साथ जीने वाले तमाम मित्रों की निरन्तर उपेक्षा अवश्यम्भावी है। दूसरों की उपेक्षा तो जैसे कोई युगधर्म हो गया है। मात्र उपेक्षा ही नहीं है अपितु तिरस्कार भी है। अपमान भी है और अवमानना भी है। ऐसी स्थिति में कभी किसी समाज की रचना हो नहीं सकती। समभाव और समादर के बिना कभी कोई समाज बनता भी नहीं। एक अच्छा स्वतंत्र समाज बनाने के लिये हमें **नयी तालीम** को आमंत्रित करना ही पड़ेगा।

वर्तमान समाज की और वर्तमान राज की दूसरी सच्चाई यह है कि हिंसा यहां सर्वमान्य हो गयी है। अहिंसा के प्रति हमारी आस्थाओं में कमी आयी है। देश का हर नेता चाहे वह छोटा हो या बड़ा हथियारों की सुरक्षा में जीना अपनी शान समझने लगा है। घरेलू स्तर पर भी हथियार रखने की मांग निरन्तर पनप रही है। परस्पर हिंसा चाहे वह शारीरिक हो अथवा मानसिक लगातार बढ़ रही है। वैसे भी हमारा समाज निरन्तर परपीड़क समाज बनता जा रहा है। सुखदेव अब केवल नामों के रह गये हैं बाकी तमाम लोग दुखदेव बनने में अपना गौरव समझते हैं। ऐसी स्थिति में **नयी तालीम** हमारे बचाव में खड़ी हो सकती है। जरूरत उसे आमंत्रित करने की है और उसके अवतरण के लिये उचित वातावरण बनाने की है।

वर्तमान तालीम हमें श्रम से सर्वथा दूर रखती ही है। इतना दूर रखती है कि हम पैदल चलना तक भूल गये हैं। चारों तरफ वाहनों का हाहाकार है। मशीनों का बोलबाला है और यह सब हमारे वर्तमान जीवन का अंग बन गया है। हम छोटे से छोटे काम के लिये किसी यंत्र की तलाश में रहते हैं। रसोई में छाछ बनाने के लिए मथनी का स्थान भी अब मिक्सी ने ले लिया है। चूल्हा तो परावलंबी हो ही गया है। ऐसी स्थिति में हम निरन्तर एक निरीह जीवन जीने को अभिशप्त हो गये लगते हैं। स्वयं कुछ भी कर सकने की सामर्थ्य खो देने के बाद हमने जो निरीहता अर्जित की है उससे बचने के लिये **नयी तालीम** को आमंत्रित करना जरूरी लगता है।

वर्तमान शिक्षा ने हमारे जन जीवन से उसकी भाषा छीन ली है। लोगों के पास उनकी अपनी बोलियां, उनके मुहावरे और उनकी लोकोक्तियां सुरक्षित नहीं रही हैं। लोक गीतों को और लोक साहित्य को वर्तमान शिक्षा ने कोई महत्व ही नहीं दिया है नतीजतन पूरा लोक साहित्य आज खतरे में है इतना ही नहीं हमारी मौखिक परम्परा में जो कुछ विद्यमान था वह सब विलुप्त हो जाने के कगार तक पहुंच गया है। मौखिक परम्परा दरअसल किसी समाज के मुखरित होने का सबूत है। हमारा समाज सर्वथा वाचाल समाज था, जीवंत समाज था। जड़ता को वहां कोई स्थान नहीं था। फिर भी गुलामी ने उसे जो जड़ता दी थी उसे **नयी तालीम** से ही तोड़ा जा सकता था।

वर्तमान शिक्षा ने न केवल परस्पर रिश्तों को प्रभावित किया है बल्कि कुदरत के साथ आदमी की रिश्तेदारी को भी बदल दिया है। एक नयी तरह की संस्कृति जिसे कि हम **मुनाफा संस्कृति** कह सकते हैं, उसके चलते सारे

रिश्ते लोभ और लालच के तराजू पर तौले जाते हैं। धरती के साथ हमारा रिश्ता बदल गया है और पानी के साथ भी।

मुनाफे की इस संस्कृति में हमने पाताल तोड़ और आकाश फोड़ हिंसा के नये करिश्मे कर दिखाये हैं। ये करिश्मे किसी जादूगर की छड़ी के अंदाज में दिखाये जा रहे हैं और अब न धरती की कोख सुरक्षित रही है और न आकाश के उस पार की रोशनी। नीली छतरी में छेद हो जाने के बाद अब बीटा, गामा किरणे अपने घातक अंदाज में धरती तक चली आती हैं।

बात केवल यहीं तक नहीं पहुंची है बल्कि बहुत आगे बढ़ गयी है। एक लम्बी तपस्या के बाद पायी आजादी भी अब हमें कोई बड़ी उपलब्धि प्रतीत नहीं होती। हम बहुत सहज भाव से विदेशोन्मुखी हो गये हैंऔर स्वदेश हमको अब अप्रिय लगने लगा है। अब झंडे की आन-बान पर मर मिटने वाले लोग गली-गली में नहीं मिलेंगे। अब अपने देश की आजादी के लिये अपनी पढ़ाई को न्यौछावर कर देने वाले नौजवान गली-गली में नहीं मिलेंगे। अब कोई **रंग दे बसन्ती चोला** का गीत नहीं गायेगा। अब कोई **जट्टा पगड़ी नहीं संभालेगा**। सर देने वाले सरदारों का जमाना लद गया है। अब सिर्फ सर झुकाने वाले सर बाकी बच गये हैं या फिर सर-सर कहते नहीं थकने वाले गुलाम लोग हमारे देश की शान हो गये हैं। यह किसी भी मुल्क के लिये सर्वथा अपमानजनक स्थिति है।

यदि हमें देश की अस्मिता को और इसकी स्वतंत्रता को पुनः गरिमामय बनाना है तो फिर हमें **नयी तालीम** को आमंत्रित करना पड़ेगा। जाहिर है कि नयी तालीम तब न केवल हमारे स्वाभिमान की रक्षा करेगी बल्कि हमारी स्वतंत्रता और आजादी को भी नया गौरव प्रदान करेगी। नयी रगों में नयी ऊर्जा भरेगी, नौजवानों की नस-नस में नया खून दौड़ेगा और नये हौसले के साथ देश के नौजवान अपने ही देश और समाज का नव निर्माण करने में संलग्न हो सकेंगे। वे तब एन.आर.आई. बकौल **न्यायमूर्ति चन्द्रशेखर धर्माधिकारी** के **नॉनरिक्वायर्ड इण्डियन्स** बनना पसन्द नहीं करेंगे बल्कि सच्चे भारतीय बनकर भारत में रहना पसन्द करेंगे। यह बात भी मैं एक सपने की तरह कर रहा हूं। एक आशा लिये मन में चलता हूं कि सपने सच तो होते ही हैं। ❑

अगस्त, 2010

शिक्षा अब सारथि बनेगी

शिक्षा को अब कमान संभालनी है। देश की बागडोर अपने हाथ में लेनी है। अब उसे देश का सारथि बनना है। सारथि वो होता है जो रथी या महारथी को राह बताता है। इस देश का दुर्भाग्य यह रहा है कि हमारे तमाम महारथी बिना किसी सारथि के रथ लेकर निकल पड़ते हैं। शिक्षा का हाल भी यही रहा है। मगर अब हमें यह घोषणा करनी है कि शिक्षा स्वयं सारथि बनेगी। अब शिक्षा का रथ कोई दूसरा नहीं चलायेगा। वह किसी के अधीन नहीं रहेगी। शिक्षा स्वयं अपने लिए स्वतन्त्रता की रचना करेगी और पूरी आजादी के साथ अपने काम का संचालन स्वयं करेगी। इस संचालन में लोग उसके साथ होंगे। समाज उसके साथ होगा। बच्चे बूढ़े सब उसके साथ होंगे। समाज के द्वारा सदियों से अर्जित जीवनानुभव और उस जीवनानुभव से अर्जित सारा ज्ञान भी उसके साथ होगा।

शिक्षा समाज के साथ हाथ से हाथ मिलाकर, कदम से कदम मिलाकर एक नये हौसले के साथ अब आगे बढ़ेगी। ऐसी शिक्षा जब आगे बढ़ेगी तो आजाद अध्यापकों का पूरा जत्था उसके साथ होगा। सारे आजाद अध्यापक अपने हर कदम पर पूरी करुणा के साथ सम्पूर्ण चराचर जगत के लिए प्रेम की धारा बहायेंगे। हर शिक्षार्थी को अपने प्रेम से सींचते चले जाएंगे। प्रेम से सींचे गये शिक्षार्थियों का एक बड़ा समुदाय आपस में प्रेम करता हुआ नए राष्ट्र की रचना करेगा।

जो शिक्षा इस प्रकार व्यापक एवं सार्वजनिक सहयोग से अपना काम स्वयं सम्पन्न करेगी वह शिक्षा कल किसी का आदेश नहीं सुनेगी। शिक्षा तब स्वयं आजाद होगी और पूरी आजादी के साथ एक आजाद देश का निर्माण करेगी। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि ऐसी शिक्षा स्वायत्त होगी। स्वायत्तता की अवधारणा में ही एक खोट है। क्योंकि स्वायत्तता देने वाला कोई और होता है। ऐसी स्थिति में स्वायत्तता देने वाले की प्रभुता बनी रहती है और स्वायत्तता पाने वाले की गुलामी बरकरार रहती है। अब वक्त आ गया है जब शिक्षा

यह कहेगी कि उसे ऐसी स्वायत्तता की आवश्यता नही। शिक्षा आज अपने लिए सम्पूर्ण आजादी सुरक्षित करना चाहती है।

अब ऐसा भी वक्त आ गया है कि शिक्षा सर्वथा लोकोन्मुखी होगी और लोक-आधारित होगी। लोगों के सहयोग से पूरी स्वतन्त्रता और करुणा के साथ संचालित होने वाली यह शिक्षा सर्वथा लोकमान्य भी होगी। जाहिर है कि ऐसी शिक्षा कल राज और राजनेताओं की मुखापेक्षी नहीं होगी। प्रिय पाठक यह मान सकते हैं कि मैं यह घोषणा सारे देश के अध्यापकों की ओर से कर रहा हूं। उनके मन की बात कह रहा हूं। शिक्षा के मन की बात कह रहा हूं। शिक्षा ने एक लम्बा कारावास भोग लिया है। हर तरह के राज की और हर तरह के दल की गुलामी को झेल लिया है। आज यह घोषणा सर्वथा उचित लगती है कि शिक्षा स्वयं अब करवट बदलेगी। आजादी और अमन-चैन की दिशा में कोई सीधा कदम उठायेगी।

संभवतया ऐसी घोषणा ही शिक्षक दिवस के अवसर पर हमारे शिक्षकों का सबसे बड़ा सम्मान होगा। शिक्षक के लिए वह दिन उत्सव का दिन होगा जिस दिन शिक्षा राजकीय कारावास से बाहर आ जायेगी। मगर यह होगा कैसे? करेगा कौन? पहल कहां से होगी? राज को राजी करके आजादी ली जायेगी या कि राज की नाराजी के साथ आजादी ली जायेगी। यह सब हमें सोचना है। सोचते हुए सपने जैसी इस बात को सच बनाना है।

हम ऐसे ही किसी सुखद सपने में विचरते हुए यह विश्वास कर सकते हैं कि शिक्षा की यह लोक आधारित और लोकमान्य आजादी कल शिक्षा को तिजारत से बहुत दूर ले जायेगी। शिक्षा तब दूकान नहीं बनेगी। तब शिक्षा उद्योग नहीं बनेगी और न ही बड़े-बड़े पूंजीपति घरानों एवं सरमायेदारों की जेब भरने का साधन बनेगी।

आजाद शिक्षा का अपना एक अनुशासन होगा। यह अनुशासन ऊपर से थोपा गया न होकर भीतर से उपजा हुआ होगा। इस अनुशासन में शिक्षा इस देश की सनातन विनय को जीना सिखाएगी और सारे समाज को पूरी सादगी के साथ जीना सिखाएगी। इस शिक्षा में समाज कल टुकड़ों-टुकड़ों में बंटेगा नहीं। इस शिक्षा में हर व्यक्ति के लिए और कुदरत के जर्रे-जर्रे के लिए पूरा प्यार होगा। नफरत को कोई स्थान नहीं होगा।

यह शिक्षा अहंकार की खेती नहीं करेगी। समाज को सरसब्ज तो बनायेगी मगर उसे अपने ही अहंकार में अंधा नहीं होने देगी। कारण यह है कि यह शिक्षा कल हर शिक्षार्थी को हाथ से काम करना सिखायेगी। मेहनत

के मोल की स्थापना करेगी। पसीना बहाकर रोटी कमाना सिखायेगी और साथ ही ऐसे जीना सिखायेगी कि पड़ौसी का पेट भी पहले भरे। अपने-अपने घरौंदों में बंद होकर स्वार्थ के साथ जीना नहीं सिखायेगी। यहां लोभ, लालच और लिप्सा को कोई स्थान नहीं होगा। यहां ऐसा कोई मेडिकल कॉलेज चलाने वाला नहीं होगा जिसकी तिजारियों में करोड़ो रुपये बंद हैं। न ही यहां ऐसी किसी मेडिकल काउसिंल का कोई मालिक होगा जिसके लॉकर से दो टन सोना और घरों से दो सौ करोड़ रुपया बरामद हो जाता हो। हालांकि यह कोई उल्लेखनीय तथ्य भी नहीं है मगर भविष्य में हम ऐसी राष्ट्रीय शर्म से बच सकें इसलिए प्रसंगवश यह उल्लेख जरूरी लगता है।

आप क्या अपने सपनों में ऐसे किसी स्कूल की कल्पना कर सकते हैं कि जहां बालकों के पूरे आनंद के लिए कोई अध्यापक सिर्फ उनको मनचाही शिक्षा देता हो। मनचाही शिक्षा और तनचाही मेहनत देने वाला ऐसा स्कूल कल अपना पाठ्यक्रम भी खुद बनायेगा और बालकों की जरूरत के अनुसार किताबें भी खुद बनायेगा। यह स्कूल किसी राज के आधीन नहीं होगा। ऐसा स्कूल अध्यापकों के वेतन के लिए भी कभी सरकारी मदद का मौहताज नहीं होगा। निरन्तर आनंद की रचना करता हुआ ऐसा स्कूल कल शिक्षा की सारी इंसानी जरूरतों को पूरा करेगा और अपने बालकों को अपने ही समाज के काम आने लायक बनायेगा। इसी तरह के महाविद्यालय भी हो सकते हैं और इन महाविद्यालयों में स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली अच्छी से अच्छी प्रयोगशालाएं भी खुल सकती हैं। बहुत विस्तार के साथ इनकी रूपरेखा पर विचार किया जा सकता है मगर फिलहाल घोषणा हमें यह करनी है कि शिक्षा कल सारथि बनेगी। देश और प्रदेश को रास्ता बताने वाली बनेगी।

क्या आप भी ऐसा मीठा सपना देखना पसंद करेंगे? □

सितम्बर-अक्टूबर, 2010

सम्मेलन से लौटकर

हम एक सम्मेलन आयोजित करके लौटे हैं। सम्मेलन का विषय था—**सामाजिक नवजागरण के लिए आजीवन शिक्षा**। सब साथ बैठकर इस विषय पर विचार कर रहे थे। एक दूसरे की बात सुन रहे थे। एक अभिभाषण था अहमदाबाद से आये **श्री प्रकाश शाह** का और दूसरा व्याख्यान था वाराणसी से आये **श्री अमरनाथ भाई** का। दोनों व्याख्यान विचार को गर्माने और गति देने के लिए काफी थे। उद्घाटन समारोह में दिल्ली से आयीं **वर्षादास** का व्याख्यान भी चिन्तन मनन के कई संकेत दे रहा था। इस चिन्तन प्रक्रिया को गति दी थी शांतिनिकेतन से आयी **मंजुरानी सिंह** ने। समारोह को अपने भजनों की पावन परस में भिगो दिया था **श्री रामचन्द्र गोयल** और उनकी बेटी **विजय लक्ष्मी** ने। 2 अक्टूबर का दिन था इसलिये महात्माजी के स्मरण के साथ समारोह आरम्भ हुआ था।

सम्मेलन जोधपुर में जोधपुर विश्वविद्यालय के सहयोग से आयोजित किया गया था। राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति और जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय के आजीवन शिक्षा एवं साक्षरता विभाग का यह सहयात्री आयोजन व्यापक सामाजिक सहकार एवं सायुज्य का प्रत्यक्ष उदाहरण बन गया था। उद्घाटन समारोह की अध्यक्षता की थी कुलपति जी श्री नवीन माथुर ने।

तीन दिन चले इस सम्मेलन ने सभी संभागियों को एक विचार प्रवाह में बहने को आमंत्रित किया था। सभी लोग पूरी तल्लीनता के साथ सामाजिक नवजागरण की संभावनाओं पर विचार कर रहे थे। हर संभागी इस दिशा में अपनी भूमिका को परिभाषित करने का प्रयास कर रहा था। साथ ही हर संभागी समकालीन समाज की दशा और दिशा के समग्र आकलन का भी प्रयास कर रहा था। प्रश्न यह था कि कौन क्या करे? कहां से शुरूआत की जाये? कुछ करना है यह सुनिश्चित था, सामने था, मन में था—मगर करें क्या?

पहला कदम बढ़ाना ही मुश्किल होता है मगर साथ चलने वालों का उत्साह इसे आसान बना देता है। सम्मेलन से लौटकर यह लगा है कि अब बहुत लोग हमारे साथ हैं अथवा हम अब बहुत लोगों के साथ हैं। अब हमें भी विचार करना है कि हम क्या करें?

सबसे पहले तो आइये हम **आजीवन शिक्षा के विद्यार्थी** बन जायें। हम स्वयं पग-पग पर सीखना शुरू करें। कदम-कदम पर नया कुछ सीखते हुए अपने को सींचना शुरू करें। नयी ऊर्जा पायें और अपनी इस शिक्षा-यात्रा को जारी रखने के सतत प्रयास करते रहें। जब तक हम स्वयं अपने विश्वास और उत्साह को बढ़ाते नहीं रहेंगे तब तक यह शिक्षा-यात्रा जारी नहीं रह सकेगी। इस शिक्षा-यात्रा का आनंद दोहरा है। इसमें हम भी सीखते हैं और हमारे साथ चलने वाले भी सीखते हैं। फिर जो जो हमारे सम्पर्क में आते हैं वे भी सीखते हैं। हम उनसे सीखते हैं और वे हमसे सीखते हैं। सबके जीवनानुभव एक दूसरे के सीधे काम आते हैं और परस्पर शिक्षण का एक सामुदायिक यज्ञ शुरू हो जाता है। इस यज्ञ के लिये किसी सामग्री की जरूरत नहीं होती। समिधा देने वालों की एक जमात जुट जाती है और इस जमात में हर आदमी अपनी-अपनी आहुति देने को लालायित होता है। आजीवन शिक्षा का सच्चा विद्यार्थी बन कर हम सहजीवन की साधना में संलग्न हो जाते हैं। सारा समाज तब शांतिपूर्ण सहजीवन का साक्षी बन जाता है। तब यहां कोई भेदभाव नहीं होता, राग-द्वेष नहीं होता, नफ़रत को यहां कोई स्थान नहीं होता। सिर्फ परस्पर प्रेम का पोषण करने वाली एक पाठशाला खुल जाती है। यह कोई दिवास्वप्न नहीं। सम्मेलन से लौटकर हम इसी दिशा में प्रयत्नरत हैं।

हम ऐसा कर सकते हैं कि अपने ही घर के आस-पास, अपने ही कुछ मित्रों के साथ अपने कुटुम्ब के ही कुछ सगे-संबंधियों के साथ मिलकर छोटी-छोटी मण्डलियों का गठन करें। एक मंडली में भले दो चार पांच लोग ही हों। साथ बैठकर सोचना शुरू करें कि हम कहां हैं, क्या हैं, क्या थे और क्या हो गये हैं। अपनी जड़ता की ओर देखने का प्रयास करें। उन बंधनों की ओर देखने का प्रयास करें जिसमें हम अनायास बंध गये हैं। रूढ़ियां, अंधविश्वास और कर्मकाण्डों से घिरे अपने समाज की ओर देखना शुरू करें। अपनी और अपने बालकों की शिक्षा पर भी थोड़ा गौर करें। इस प्रक्रिया में अपने घर-परिवार की औरतों को साथ लेना भी बहुत जरूरी है। बहू-बेटियों को भी अपने साथ लेना बहुत जरूरी है।

अपनी इस पाठशाला में इस बात पर गौर करना भी बहुत जरूरी है कि हमारे आस-पास के पेड़-पौधों से हमारा क्या रिश्ता है। नदी-नालों से हमारा क्या रिश्ता है? चांद-सितारों से हमारा क्या रिश्ता है और बगिया में बेलों पर महकती जुही-चमेली से हमारा क्या रिश्ता है? यह सब ऐसे सरोकार हैं जिनसे जुड़कर हम अपने जीवन में आनंद भर सकते हैं, सुवास भर सकते हैं और अपने होने की सार्थकता का अनुभव कर सकते हैं।

सम्मेलन से लौटकर हम लगातार यह सोच रहे हैं कि हम ऐसा कैसे करें। आपको भी सोचना है और सम्मेलन के सभी संभागियों को भी सोचना है। निवेदन सिर्फ यह है कि हमें किसी भी मण्डली को किसी संस्था का रूप नहीं देना है। न हमें अपने काम के बारे में कोई प्रचार करना है। कोशिश यह भी करनी है कि हम हर तरह के कर्मकाण्डों से बचे रहेंगे और पूरी विनम्रता के साथ सिर्फ एक ही लक्ष्य को अपने प्रयास निवेदित करेंगे। हमारे ये छोटे समूह अपने पास ऐसी पुस्तकें रखेंगे जो एक-दूसरे को आनंद दे सकती हो, दिशा दे सकती हो और दृष्टि दे सकती हो। ये किताबें पांच-पच्चीस भी हो सकती हैं और सौ दो सौ भी हो सकती है। कल्पना यह है कि समूह का हर व्यक्ति अपने अपने झोले में पांच पच्चीस किताब रखेगा। जब कभी भी मिलेंगे तब कभी कोई नयी किताब पर बात करेगा अथवा नयी जानकारी पर चर्चा करेगा। परस्पर विचार प्रवाह यूं जारी रहेगा और सब मिलकर आपस में जानकारियां बांटते हुए एक दूसरे को आनंद देते रहेंगे।

इन छोटे समूहों का मिलना कभी किसी के स्वार्थ से प्रेरित नहीं होगा बल्कि सभी लोग सर्वथा निष्काम एवं निस्वार्थ भाव से इन समूहों को संचालित करेंगे। ये छोटे-छोटे ऐसे संघ होंगे जहां बिना किसी सम्प्रदाय के परस्पर **संप** की उपासना होगी। निस्वार्थ प्रेम के बंधन को **संप** कहते हैं। राजस्थान में ही **गोविन्द गुरु** ने **संप सभा** का गठन किया था और सारे आदिवासी इस **संप सभा** के सदस्य बनकर एकजुट हो गये थे। **गोविन्द गुरु** की गाथा अनूठी है। हम सबको उसे पढ़ना है और उससे प्रेरित होना है।

गोविन्द गुरु की तरह ही मार्ग दिखाने वाले कई संत राजस्थान में हुए हैं। उनकी सबकी अपनी-अपनी गौरव गाथाएं हैं। हर गाथा में ऊर्जा है और हमारे लिये अपने आपको अवेर लेने के अनेक संकेत हैं। जो लोग **नवजागरण** के काम की दिशा में कदम बढ़ा चुके हैं उनके लिये अपने को बिखरने से बचाना पहला काम है। सच यह है कि बिखर जाने के सारे अवसर बाहर सहज रूप से सुलभ हैं। सारे बाजार सजे हैं कि हम बिखर

जायें और बिक जायें। ऐसी स्थिति में अपने को अवेरे बिना काम नहीं चलेगा।

अपने वर्तमान को हम कैसे देखते हैं? अपने ही समाज में लगभग रोटी को तरसते लोगों और महलों में विलास करते लोगों को हम कैसे देखते हैं? दूध से वंचित बच्चों और गांवों से दूध ले जाते टेंकरों को हम कैसे देखते हैं? डेरियां हैं यह सच है मगर सच यह भी है कि हर शहर में लाखों बच्चे दूध से वंचित हैं। बच्चों को छोड़िये लाखों बछड़े बिना दूध पिलाये सिर्फ बूचड़-खानों को बेच दिये जाते हैं। हमें पूछना है कि ऐसा क्यों होता है?

वर्तमान को देखते हुए हमें अपनी शिक्षण-संस्थाओं के अंदरूनी परिवेश को भी देखना है और विश्वविद्यालयों में चलते भ्रष्टाचार को भी देखना है। सार्वजनिक पुस्तकालयों में किताबें किन शर्तों पर खरीदी जाती हैं और कैसी किताबें खरीदी जाती हैं और फिर उनका रख-रखाव कैसे होता है यह सब भी देखना है। अपने न्यायालयों में चल रहे भ्रष्टाचार और घनघोर रूप से विलम्बित न्याय प्रक्रिया को भी देखना है। हमें अपने अस्पतालों की ओर भी देखना है। गलियों की ओर भी देखना है , सड़कों की ओर भी देखना है। यह सब इसलिये करना है कि सारा समाज अपना है। राज्य अपना है, देश अपना है। हमारा अपना योगदान कहां कितना है ? कौन कैसे किसी जड़ता को तोड़ सकता है? यही सब हमें सोचना हैं। मगर सबसे पहले हमें अपनी ओर देखना है; अपने भीतर। क्या हम जाग्रत हैं? सच ही है कि हम जागेंगें तो जग जागेगा। ❑

नवम्बर, 2010

आओ, घर-घर में जाग लगा दें

किसी ने कहा था—'मेरी घड़ी में चार बजे की जाग लगा देना।' पहली बार सुन कर के ही यह प्रयोग अच्छा लगा था। भाषा के स्तर पर इस प्रयोग में एक सरलता थी, मौलिकता थी और साथ ही थोड़ा देशज स्पर्श था। मन मगर इससे भी आगे सोचने लगा था। कितना अच्छा होता अगर हम ऐसी कोई जाग अपने ही मन में लगाने की क्षमता रखते। कितना अच्छा होता कि यह जाग हमें केवल नींद से नहीं जगाती बल्कि हमारी रग-रग को जाग्रत कर मन में ऐसी इच्छा-शक्ति जगाती कि हम अन्याय को नहीं सहते, असत्य को नहीं सहते, किसी तरह के शोषण को नहीं सहते और साथ ही दुराचार, अनाचार अथवा भ्रष्टाचार का जमकर प्रतिकार भी करते। इतना ही नहीं, इस जाग का अर्थ यह भी होता कि हम स्वयं ऐसा कभी नहीं करते। प्रतिपल इतना जाग्रत रहते कि हम स्वयं कोई भूल कभी करते ही नहीं। हो भी जाय कभी, तो मन तुरन्त जागता और अपनी ही भूल का प्रतिकार करते हुए हमें सजग कर देता है। कितना अच्छा होता कि कोई हमारे अपने इस शरीर में ऐसी कोई जाग लगा सकता !!

ऐसा सोचते हुए यह भी महसूस होता है कि कुदरत ने तो जन्म से ही हमारे मन में ऐसी एक जाग भर रखी है कि कभी भी मिथ्या भाषण करें तो मन स्वयं एक बार प्रतिकार करता है। मगर यह आदमी का हठ है कि वह मन मार कर भी बुरा काम करता है। ऐसी स्थिति में मन की जाग को हमें एक नयी दृढ़ता देनी होगी। उसे मजबूत बनाना होगा इतना कि वह डिगे नहीं। डिग जाना मन की कमजोरी है। न डिगना मन की मजबूती है। ऐसी मानसिक दृढ़ता के लिए हमें मन को पुन: संस्कारित व प्रशिक्षित करना होगा। मन को ऐसी दृढ़ता देने के सुनियोजित एवं सुचिंतित यत्न को मैं जाग लगाना कहता हूं।

मैं इससे आगे सोचता हूं—शिक्षा का तो काम ही यह है कि वह हर व्यक्ति को इतना जाग्रत कर दे कि वह अपनी हर भूल के बारे में सचेत हो

जाये और दूसरों के किसी अन्याय और अनाचार आदि को चलने नहीं दे। शिक्षा का काम न केवल विवेक को जाग्रत करना है बल्कि विवेक को सतत जाग्रत किये रखना भी है। क्यों ऐसा होता है कि हम बार-बार बहक जाते हैं? मन भटक जाता है, तन भटक जाता है और बाहर का कोई लोभ हमको चुपके से मीठी नींद सुला जाता है। नींद के वशीभूत होकर हम ऐसा कुछ करते हैं जो सहज रूप से हमसे अपेक्षित नहीं होता। हमारी तरह दूसरे भी ऐसा करते हैं। अलग-अलग लोग अलग-अलग तरीके से ऐसी गलतियां करते हैं कि समाज सिर्फ भ्रष्टाचारी और दुराचारी लोगों का एक अड्डा बन जाता है। समाज ही नहीं जब पूरा देश ऐसे लोगों का अड्डा बन जाय तो यह एक राष्ट्रीय शर्म की बात हो जाती है और तब पूरे देश की शिक्षा व्यवस्था पर एक प्रश्नचिह्न लग जाता है? पाठकों की जानकारी के लिए यह उल्लेख आवश्यक है कि दुनिया के भ्रष्टतम राष्ट्रों में से भारत पांचवां है। सवाल यह है कि हमारे भीतर ऐसी कोई जाग कैसे भरे कि हम बहकने से स्वतः बच जायें, बिखरने से बच जायें और अपनी तन्द्रा और प्रमाद से मुक्ति पा जायें। यह बात हम पिछले अंक के सम्पादकीय को थोड़ा आगे बढ़ाते हुए ही कह रहे हैं। अभी एजेन्डा हमारा यही है कि हम अपनी जाग्रति के साथ समाज को एवं देश को गर्त में जाने से बचा ले जायें।

बीकानेर में एक **डॉ छगन मोहता** थे। वे हमारे लिए पिता तुल्य गुरु थे। वे कहा करते थे कि '**अधोगति की कोई सीमा नहीं होती**'। हमने भी पतन की सारी सीमाएं पार कर ली हैं और अब भी यदि जागने की जरूरत को नहीं महसूस करते हैं तो जाहिर है कि हमारी रगों में आराम और हराम के अफीम का नशा कहीं गहरे पैठ गया है। स्थिति चिन्ताजनक है मगर उम्मीद और आशा कहीं बची है तो वह केवल शिक्षा के क्षेत्र में ही बची है। अगर ऐसा कहा जाय कि '**अब शिक्षा तेरा एक आसरा**' तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। वैसे ज्ञान का संसार ही एक ऐसा संसार है जहां कभी कोई अतिशय वर्जित नहीं है। पाठक कृपया खोज करें कि ज्ञान की जैन परम्परा में अतिशय क्षेत्र क्यों खोले जाते थे? यदि आप न पहुंच पायें वहां तक तो हमें लिखें। अगले ही किसी अंक में हम अतिशय क्षेत्रों की इस परम्परा की पूरी जानकारी प्रकाशित करेंगे। यह उल्लेख केवल प्रसंगवश किया जा रहा है।

अभी मुद्दा यह है कि शिक्षा कैसे जन-जन का विवेक जाग्रत करे? कैसे हम जन-जन को संगठित करें ? कैसे हम गरीबी को बढ़ने से रोकें और कैसे हम हर कदम पर ठगे जा रहे गरीबों को इस समाजव्यापी ठगी से बचायें? यह कैसी शर्म की बात है कि नरेगा के मजूर आधी-अधूरी मजदूरी

पाने के लिये किस कदर अपमानित होते हैं और सरेआम कैसे ठगे जाते हैं? उनको ठगनेवाले शातिर लोग उनसे कहीं ज्यादा पढ़े-लिखे हैं। अब यहां प्रश्न यह है कि इन पढ़े-लिखे लोगों को ऐसी पाटी किसने पढ़ाई? आराम की लालसा लोभ जगाती है यह सच है मगर यह भी कैसा सच है कि 'परहित सरिस धर्म नहीं भाई, पर पीड़ा सम नहीं अधमाई' का सदियों से जाप करने वाला समाज इतना परपीड़क हो जाता है। यह हमारे लिये सर्वथा आत्मग्लानि का विषय है और हमें इससे उबरना है।

यदि हम सचमुच इस स्थिति से उबरना चाहते हैं तो हमें गली-गली में **नव-जागरण** मण्डल खोलकर जन-जन को जाग्रत करना होगा। ऐसे मण्डल अथवा ऐसी **जाग्रति-टोलियां** हमें गांव-गांव में खड़ी करनी पड़ेगी। मगर उससे भी पहले शिक्षा के किसी व्यापक अभियान के द्वारा पैसे और पूंजी की प्रतिष्ठा को नित नयी तूल पकड़ने से बचाना होगा। **पैसे की प्रतिष्ठा को आदमी की प्रतिष्ठा से बड़ा बनाने की भूल ही भ्रष्टाचार की समस्या का मूल है ।** हमें आदमी को पुनः प्रतिष्ठित करना होगा। हर आदमी को दूसरे आदमी के लिये जीना है—इस विचार को पुनः प्रसारित करना होगा। कोई भी समाज केवल अपने स्वार्थ और अपने सुख के लिये नहीं जी सकता। पूरा समाज परस्पर एक दूसरे के उद्यम और कौशल के सहारे जीता है। सबका ज्ञान एक दूसरे के जीवन को सुखदायी बनाता है फिर भी आज के विश्व-समाज से कृतज्ञता नदारद है। यही वजह है कि हर भीड़ में आदमी अपने को अकेला पाता है या अकेले होने की अनुभूति करता है। इसी अकेलेपन के कारण सारी हताशा है, सारा क्रोध है, सारी निराशा है तथा अंततः घनघोर अवसाद है। सच तो यह है कि यह जीवन एक मेला है, सच्चे सहजीवन का एक उत्सव है और यदि ऐसा है तो फिर ठगी क्यों है, मारधाड़ क्यों है, कदाचार क्यों है, जाल और फरेब क्यों है? आइए इससे बचें और हर घर में ऐसी कोई जाग लगा दें कि हर घर का हर बन्दा हर तरह की भूल से बचता चले और जीवन सदा लहलहाता रहे।

सच्चे सहजीवन में एक स्वाभाविक परमार्थ पनपता रहता है। मनुष्य दूसरे के प्रति अपना दायित्व समझता हुआ सहज रूप से करुणा, दया और परोपकार से पोषित होता रहता है। ऐसी स्थिति में ही मनुष्य अपनी 'स्वभावज-श्रद्धा' की अनुभूति करता है। उसे किसी के बताने की जरूरत नहीं रहती। वह स्वयं दूसरों के लिए जो कुछ कर सके और जितना कुछ कर सके वह करता रहता है। उसकी यह स्वभावगत श्रद्धा परिवार, कुटुम्ब और समाज के सभी लोगों के लिए स्नेह संबंध का कारण तो होती ही है, मगर साथ ही

पर्यावरण एवं सकल चराचर जीव-जगत के लिए भी वह चिंतित रहता है। ऐसी व्यापक जिम्मेदारी के सहज बोध के कारण मन भटकता नहीं और कोरा स्वार्थ सूझता नहीं। इसके साथ ही वह अपने अहंकार से भी बचता है और क्रोध एवं हिंसा से भी। अनावश्यक संग्रह की वृत्ति से बचता हुआ वह सहज रूप से अपरिग्रह के व्रत की साधना भी करता है और सहज दया व दान वृत्ति की उपासना भी करता है। ऐसा सच्चा सहजीवन एवं घर-घर का जागरण सच्ची शिक्षा से ही सम्भव है। हमें यह करना है और निरन्तर अलख जगाते हुए घर-घर में जाग लगानी है। सच तो यह है कि मनुष्य जाति को जो जन्मजात जाग मिली है, उसे संपोषित व सक्रिय करना है। ❑

दिसम्बर, 2010

नयी सरकार और शिक्षा के नये सरोकार

प्रदेश में सरकार बदल गयी है। सत्ता में परिवर्तन सदा सुखदायी इसलिये होता है कि यह हमारे लोकतंत्र की जीवन्तता और जिन्दादिली का प्रमाण प्रस्तुत करता है। मतदाता जागरूक है, विवेकवान है और अपने निर्णय लेने की खुद क्षमता रखता है—यह हमारे लोकतंत्र की मजबूती का प्रमाण है। अब विचार करने की बात यह है कि ऐसा मतदाता अपने बालकों की शिक्षा के कैसे सपने देखता है? और उन सपनों को साकार करने में सरकारें कैसी और कितनी जिम्मेदारी निभाती हैं? विचार करने की बात यह भी है कि सरकार शिक्षा को कितनी तवज्जो देती है? उसकी प्राथमिकताओं में राजकीय उठा-पठक की तुलना में शिक्षा कितना महत्त्व रखती है? वर्तमान सरकार को इन तमाम प्रश्नों पर सोचना है और शिक्षा के नये सरोकारों के बारे में पूरी समझ बनाते हुए एक सुचिंतित कार्यक्रम पर विचार करना है।

शिक्षा की बात करते हैं तो सबसे पहले तो यह प्रश्न उभरता है कि हमारी नयी सरकार और उस सरकार के नये नुमाइंदे स्वयं अपनी शिक्षा के बारे में कितने सचेत और लालायित हैं? यह कैसी रोचक स्थिति है कि किसी भी सरकार का कोई भी मंत्री या अफसर कभी भी किसी पुस्तकालय में जाकर पढ़ता हुआ अथवा किताब मांगता हुआ नजर नहीं आया है। कभी किसी सरकार ने कभी भी देश के प्रबुद्ध शिक्षकों को आमंत्रित करके यह नहीं कहा कि आइये, हम भी आपसे कुछ सीखना चाहते हैं। कभी कोई राजनेता किसी विश्वविद्यालय के राज-नीति शास्त्र के प्राचार्य के पास राजनैतिक परामर्श के लिए भी नहीं गया। यह दरअसल एक कड़वा सच है कि हमारे राजनेता अपनी सतत शिक्षा में विश्वास नहीं रखते हैं और अपनी स्वयं की शिक्षा को वे सदा नया भुलावा देते रहते हैं। मेरा एक विनम्र सुझाव है कि नयी सरकार वर्ष में कम से कम तीन बार देश के प्रबुद्ध शिक्षाविदों, प्राचार्यों,

कलाकारों, साहित्यकारों, संगीतज्ञों, फिल्मकारों एवं रंगकर्मियों के साथ शैक्षिक शिविरों का आयोजन करे और अपनी स्वयं की जिज्ञासाओं पर उनके साथ सार्थक संवाद करे। बेहतर तो यह होगा की मुख्यमंत्री स्वयं सचिवालय के पुस्तकालय को अधुनातन व अद्यतन दृष्टि से विकसित करें और नये विचारों पर अपने मंत्रियों के साथ बातचीत का अवकाश निकालने की व्यवस्था करें। यदि ऐसा होता है तो राजस्थान ऐसी पहल करने वाला देश में पहला प्रदेश होगा।

प्रदेश का अपना शिक्षातंत्र कितना चरमराया हुआ है इस पर नयी सरकार की नजर सबसे पहले पड़नी चाहिए। इस बात की तहकीकात की जानी चाहिए कि प्रदेश कि साक्षरता प्रतिशत में जो श्रीवृद्धि हुई है उसका सरकारी आंकड़ा कितना प्रामाणिक है। प्रदेश का सर्व-शिक्षा अभियान क्या कुछ करने में सफल हुआ है अथवा क्या नहीं कर सका है इसकी भी एक नितांत निष्पक्ष पड़ताल सर्वथा आवश्यक है। सभी जानते हैं कि वहां कई कमियां हैं, खामियां हैं मगर ऐसा नहीं है कि उन्हें पूरा नहीं किया जा सकता है। सुधार सब जगह संभव है। आवश्यकता है तो केवल खरे राजनैतिक संकल्प की। यदि ऐसा कोई संकल्प व्यक्त भी हो जाता है तो सुधार स्वतः आरंभ हो जायेगा।

हमारे स्कूलों की हालत क्या है? हमारी पाठ्यपुस्तकें कितनी चित्ताकर्षक और कितनी पठनीय हैं? उनकी भाषा कैसी है? उनमें वर्तनी की और तथ्यों की कितनी गलतियां हैं? उनमें दिये गये रेखांकन कैसे हैं? उनमें इस्तेमाल किया जाने वाला कागज कैसा है? उनकी छपाई कैसी है? बालकों के हाथों में दी जाने वाली इन पाठ्यपुस्तकों की जिल्द कैसी है? क्या कभी किसी ने देखा है? आज सबसे पहली जरूरत अपनी पाठ्यपुस्तकों को मनोहारी और पठनीय तथा प्रामाणिक बनाने की है। यह कोई आसान काम नहीं है, मगर तुरन्त इसे हाथ में लिया जाना चाहिए।

महाविद्यालयी शिक्षा की स्थिति क्या है? हमारे महाविद्यालयों के पुस्तकालयों की स्थिति क्या है? वहां पढ़ाई जाने वाली पाठ्यपुस्तकों का रूप-रंग और अंतर्वस्तु क्या है? आवश्यकता है कि हम तुरन्त इस ओर ध्यान दें। महज इतना ही पर्याप्त नहीं है। आवश्यक और अनिवार्य तो यह भी है कि हम उन्हें सुचारु रूप से संचालित करने, उनको शैक्षिक एवं सांस्कृतिक रूप से संपन्न करने और उन्हें तकनीकि एवं वैज्ञानिक दृष्टि से आधुनिकतम उपकरणों के साथ सुसज्जित करने की पूरी व्यवस्था करें। चाहे महाविद्यालय

हो अथवा विश्वविद्यालय हमारी प्रयोगशालाओं की दयनीय स्थिति पर कोई भी तरस ही खायेगा। नयी सरकार को इस दिशा में कारगर कदम उठाने में कतई विलम्ब नहीं करना चाहिए।

प्रदेश के शैक्षिक परिदृश्य में आज बड़ी आवश्यकता यह है कि हम सभी शिक्षकों को, चाहे वे प्राथमिक शालाओं में काम करते हैं अथवा महाविद्यालयों में अथवा विश्वविद्यालयों में अपने ही विकास का पूरा अवसर प्रदान करें। शिक्षकों के उत्थान एवं सतत शैक्षिक प्रशिक्षण के लिए डाइट नाम की जिला स्तर पर जो संस्था बनायी गयी थी उसको प्रशासनिक निर्णयों के द्वारा लगभग मृतप्रायः बना दिया गया है। ढांचा मौजूद है, साधन और धन भी मौजूद है मगर प्राण नदारद हैं। नयी सरकार इन शैक्षिक संस्थाओं में तुरन्त प्राणों का संचार कर सकती है और उनके ऊपर थोपे गये गैर-शैक्षिक कामों को हटा कर उन्हें केवल शिक्षकों के सतत शिक्षण के काम में संलग्न कर सकती है।

पिछले दिनों नवम्बर 2008 में ही केन्द्र सरकार ने शिक्षा के अधिकार संबंधी विधेयक को पारित कर शैक्षिक जगत में एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया है। इस विधेयक के अंतर्गत 6-14 वर्ष के हर बालक-बालिका को अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा देने का प्रावधान है। इस विधेयक के संबंध में कांग्रेस की अध्यक्ष श्रीमती सोनिया गांधी की प्रतिबद्धता के बारे में भी हम सब जानते हैं। देखना यह है कि प्रदेश की नयी सरकार अब इस विधेयक को अपने ही प्रदेश में अमली जामा कैसे पहनाती है? और इस दिशा में कौन-कौन से कारगर कदम उठाती है। जो भी हो यह नयी सरकार के सामने एक चुनौती का काम है।

स्वयं श्री अशोक गहलोत के जमाने में गांव-गांव में खोले गये महात्मा गांधी सार्वजनिक पुस्तकालय एवं वाचनालय भी प्रारंभ से ही भ्रष्ट एवं स्वार्थ-लोलुप नौकरशाही के कारण दयनीय-दुर्दशा के शिकार हो चुके हैं। किताबें वहां धूल फांकती हैं। आज पहली आवश्यकता है कि हम इन पुस्तकालयों में भी नये प्राणों का संचार करें और गांव-गांव के हर मतदाता के सामने अपनी **शैक्षिक-प्रतिबद्धता** का सच्चा प्रमाण दें।

विश्वविद्यालयों की स्थिति की ओर तो हमें विशेष ध्यान देना ही चाहिए, मगर साथ ही पिछले दिनों जिन निजी शिक्षण संस्थाओं, विश्वविद्यालयों अथवा मेडिकल एवं इंजीनियरिंग के नये महाविद्यालयों की जो पौध पनपी है उनकी क्षमताओं का आकलन और पुनरवीक्षण भी

आवश्यक है। यह जांच भी जरूरी है कि वहां कौन पढ़ा रहे हैं? वहां क्या पढ़ाया जा रहा है और वहां लागू किये गये पाठ्यक्रम राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय दृष्टि से कितने समीचीन हैं? वहां के पुस्तकालय कैसे हैं? और वहां की प्रयोगशालाएं कैसी हैं?

आवश्यकता तो यह है कि प्रदेश के पूरे शैक्षिक जगत में एक नयी ऊर्जा का संचार होऔर इसे नयी दिशा और नयी गति मिले। देखना यह है कि नयी सरकार इन शैक्षिक सरोकारों के बारे में कैसे कारगर कदम उठाती है।

❑

जनवरी, 2009

विज्ञान का सच और सच का विज्ञान

फरवरी के महीने में विज्ञान दिवस आता है। 28 फरवरी। हम पिछले दो वर्षों से प्रयास कर रहे हैं कि **अनौपचारिका** का फरवरी अंक **विज्ञान-अंक** बने। उस अंक में विज्ञान की तमाम उपलब्धियों और खामियों की सुचिन्तित व्याख्या और विवेचना की मंशा बनी रही है। खेद है कि वैसा अंक निकालना अब तक संभव नहीं हो सका है। कारण अपनी जगह हैं और अड़चनें अपनी जगह हैं। हम फिर भी मन में यह विश्वास लिये चलते हैं कि अगली फरवरी में हम ऐसा कर सकेंगे।

फिलवक्त पाठकों के साथ इस बात की चर्चा हम आवश्यक समझते हैं कि विज्ञान की ताकत को हम कैसे समझें? यह तो हम जान चुके हैं और देख भी चुके हैं कि विज्ञान की ताकत अपार है। वह चमत्कारों से भरी है मगर उन चमत्कारों में विवेक है, विज्ञान है, तकनीक है और उसके आविष्कार एवं रचना में मनुष्य की बुद्धि, लगन और हुनर जुड़ा हुआ है। विज्ञान का कोई भी चमत्कार किसी पोंगापन्थी, ओझा या देवीदेवता का चमत्कार नहीं है। तो सच यह है कि विज्ञान के पीछे मनुष्य है, आदमी हैं, औरतें हैं, लोग हैं और लोगों का हुनर है, इल्म है। अब दीगर सवाल यह उठता है कि विज्ञान के पीछे यदि मनुष्य है तो विज्ञान के आगे भी तो मनुष्य होना चाहिए। इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि विज्ञान आदमी के द्वारा, आदमी के लिए और आदमी का अपना होना चाहिए। विज्ञान को अपने हर चमत्कार के साथ आदमी की सेवा में खड़ा रहना चाहिए , आदमी की चाकरी में उपस्थित रहना चाहिए और आदमी के लिए ऐसे संसार की रचना में लगे रहना चाहिए कि आदमी उसमें अमन के साथ सुखी रह सके। अब विचार हमें यह करना है कि विज्ञान क्या ऐसा कर रहा है? उत्तर होगा कि हां कर भी रहा है और नहीं भी कर रहा है।

इस देश को विज्ञान की दिशा में आगे बढ़ाने वाला एक स्वप्नदर्शी प्रधानमंत्री मिला था। हम सब जानते हैं उसका नाम **जवाहरलाल** था। **बापू**

ने कहा था—'**भारत के जवाहर बने रहो**' और वही **जवाहर** विज्ञान को अंगुली पकड़ कर अमन की राह पर चलाने को कटिबद्ध था। उसके साथ इतफाक रखने वाले **बर्टण्ड रसल** एवं **आईन्सटाइन** जैसे वैज्ञानिक भी थे। **बापू** की प्रेरणा थी, **विनोबा** का साथ था कि वो संकेत काफी हद तक कारगर हुआ और वैज्ञानिक तरक्की ने अमन के लिये आदमी का साथ देना शुरू किया। आज जो तरक्की हुई है उसमें लगभग अविश्वसनीय बातें सच हो गयी हैं। साकार हो गयी हैं। यह जो सम्पादकीय लिखा जा रहा है और इसका लिखा जाना जितना आसान और सुखद हो गया है वह भी विज्ञान का चमत्कार है। जिन वैज्ञानिकों ने यह सम्भव किया है उन्हें हम प्रणाम करते हैं। उनको भी हम प्रणाम करते हैं जिन्होंने बैंकों का काम आसान कर दिया है और दूरदराज तक बैठे अपने सगे-संबंधियों के साथ संवाद को बहुत आसान बना दिया है। सच है कि दुनिया बहुत छोटी हो गयी है मगर सच यह भी है कि यही दुनिया विज्ञान की ही बदौलत आज विनाश के कगार पर खड़ी है। प्रतिपल ऐसा खतरा न केवल इस पृथ्वी के सर पर मंडरा रहा है बल्कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी इसी दहशत का शिकार है। विज्ञान ने ऐसी अनावश्यक शक्तियों का संचय कर लिया है कि यह पृथ्वी कभी भी नेस्तनाबूद हो सकती है और नतीजतन न केवल पूरा सौर-मंडल बल्कि सारी सृष्टि हिल सकती है। यदि ऐसा होता है तो वह महाप्रलय और महाविनाश की स्थिति होगी। तब कोई भी आदमी नहीं बचेगा और यह विज्ञान की विनाशक शक्तियों का ही परिणाम होगा।

अब हमें सोचना यह है कि विज्ञान को कैसे और कौन लगाम दे कि इन विनाशक शक्तियों का अनवरत अनुसंधान बंद हो जाय। आज पूरी दुनिया में जितने आततायी हैं , आतंकवादी हैं इन सबके पास सारे मारक हथियार हमारी ही फैक्ट्रियों से गये हैं। उनके पास कारतूस भी हम ही पहुंचाते हैं और फिर वे कारतूस अथवा रॉकिट, सारा असलाह हमें ही डराने धमकाने के काम आता है। किसी भी आंतकवादी संगठन के पास हथियार बनाने का अपना कारखाना नहीं है। वे इतने आधुनिकतम संचार माध्यम भी हमारे ही वैज्ञानिकों से कबाड़ते हैं। यदि हम फिलहाल हथियार बनाना मुल्तवी कर दें तो कितना अच्छा होगा?

मगर सच यह भी है कि हमें या इस पृथ्वी को खतरा केवल आतंकवादी संगठनों से नहीं है। सरकारें स्वयं सुरक्षा के बहाने आततायी बन गयी हैं। उनको भी यह बड़बोलापन विज्ञान द्वारा दी गयी विनाशकारी

शक्तियों से ही मिला है। चिन्ता की बात यह है कि विज्ञान विनाश का साथ कब छोड़ेगा? कब लोकोन्मुखी बनेगा?

अब अंत में एक आखिरी प्रश्न यह है कि वैज्ञानिक अध्ययन एवं अन्वेषण का आधारभूत सिद्धान्त क्या था? यदि कोई संक्षेप में उत्तर दे तो यही कहेगा कि विज्ञान का काम तो सत्य का और अन्तिम सत्य का उद्घाटन था। विज्ञान यदि सूक्ष्मदर्शी बना था तो इसीलिये कि वह इस सृष्टि के सच को जान सके और ऐसे सच की आराधना में मनुष्य मात्र को जोड़ सके कि वह जीवन की सार्थकता को समझते हुए सुख से जीवन बसर कर सके। इस सत्य की आराधना की ओर हमारे संतों ने संकेत किया था—**एकै साधे सब सधै, सब साधे सध जाये**-ऐसा तो हम आज तक नहीं कर सके हैं। किसी को सिरा मिला ही नहीं है। सब उलझ रहे हैं। सुलझने के सारे प्रयत्न व्यर्थ जा रहे हैं। तब भला विज्ञान की सारी उपलब्धियां किस काम की? हमें विचार करना है और इस हरी-भरी धरती को सारे खतरों से बचाना है। ❑

फरवरी, 2009

कक्षा में कहां है विनोद!

होली का अवसर है। रंगों का मेला है। त्यौहार का तकाजा है कि हम हमारी शिक्षा में रंगों की तलाश करें। कक्षा में रंगों की तलाश करें। थोड़ा देखें कि शिक्षा सरस बन रही है कि नहीं। रस के बिना वैसे भी जीवन के अर्थ क्या हैं? मगर रस की पहचान किसे है? रस लेने और सरस जीवन जीने की फुर्सत किसे है? ऐसे कई सवालों के बीच हम अपने से यह पूछते हैं कि हमने क्या कभी अपनी शिक्षा की किसी कक्षा में **विनोद** की तलाश की है?

मैं अकेले सवालों का सामना नहीं करना चाहता इसलिये कुछ मित्रों को फोन कर लेता हूं। उनसे पूछता हूं कि आपने उम्र भर पढ़ाने का काम किया है—क्या आपको अपनी किसी कक्षा में **विनोद** का कोई क्षण याद आता है। सिर्फ पूछता ही नहीं हूं, उनसे यह भी निवेदन कर लेता हूं कि कृपा करके अपने इतने लम्बे अनुभव में से कुछ क्षण **विनोद** के खोज के निकाल दीजिये और मेरे लिये एक लेख लिख कर भेज दीजिये। ऐसा निवेदन मैं एक से नहीं अनेक मित्रों से करता हूं। उनको याद दिलाता हूं कि काव्य-शास्त्र में विनोद की बातें बहुत बार होती रही हैं, होली के अवसर पर लगभग हर छोटे-बड़े शहर में हास्य-रस सम्मेलन होते रहे हैं, मगर क्या कभी इस मौसम में भी किसी कक्षा में किसी **सरस विनोद** की बहार बहती आपको याद आती है। सभी मानते हैं कि विषय बहुत अच्छा है। सचमुच कुछ लिखना सम्भव है। आश्वासन मिलता है कि कोशिश करूंगा और जरूर लिख भेजूंगा।

एक कलाकार मित्र हैं। वे चित्रकार भी हैं। उनके पास कलम है। कूंची है। रंग हैं। रेखा है और नित नये रूपाकारों को रच डालने की सामर्थ्य है। उनसे भी निवेदन करता हूं कि—भैया तुम भी अध्यापक रहे हो कुछ लिख भेजो। अपनी लेखनी के साथ कलम कूंची भी चलाओ और कुछ कार्टून भी बना भेजो। वे भी कहते हैं—अच्छा याद दिलाया। सचमुच बड़ा सरस विषय है। जल्दी कुछ करके भेजता हूं। कार्टून भी बना कर भेजूंगा। आपको अच्छा लगेगा।

अब हम बैठे हैं। रोज पोस्टमैन की प्रतीक्षा करते हैं। डाक में आया हर लिफाफा बड़ी हसरत से और उम्मीद से खोलते हैं जब नहीं कुछ निकलता तो निराश होते हैं, मगर हताश फिर भी नहीं होते। मित्रों की मेहरबानी पर जिन्दा हैं। अब तक बनी रही है। अब भी बनी रहेगी ऐसी उम्मीद है इसलिये कल की प्रतीक्षा में फिर ढील छोड़ देते हैं, मगर मन है कि मानता नहीं। झट से मोबाइल उठाते हैं और फिर दो चार मित्रों को फोन दाग देते हैं। फिर वही जवाब बस अब जल्दी कुछ करते हैं? हमारी प्रतीक्षा बनी हुई है। होली आती है और बिना भिगोये सिर के ऊपर से गुजर जाती है।

तलाश बनी हुई है कि कोई माई का लाल शिक्षा के अनुभवों में से किसी विनोदी शैक्षिक परिदृश्य से हमारा परिचय करा दे। सभी कहते हैं विषय अच्छा है। हमें भी अच्छा लगता है कि हमने अच्छा विषय दिया। प्रतीक्षा अब भी बनी हुई है, मगर बानगी के बतौर सिर्फ एक रचना हमें भाई विलास जाह्नवे से मिलती है। विलास जाह्नवे उदयपुर में रहते हैं। बड़े कलाकार हैं। उनकी भेजी हुई रचना हम इस अंक में परोस रहे हैं। मगर अब अगली होली तक प्रतीक्षा करेंगे कि शिक्षा में विनोद पर अथवा कक्षा में विनोद पर कभी कोई बड़ा खजाना निकाल कर ला सके।

हमारे कहने के अंदाज से आपको हमारी बात भी एक विनोद सी लग सकती है। मगर सच है कि हम पूरी गम्भीरता के साथ शिक्षा के सरस और विनोदप्रिय बन जाने की प्रतीक्षा में हैं। यह तमाम शिक्षाविदों के लिये सोचने की बात है कि शिक्षा सदा किसी के लिये एक सरस अनुभव क्यों नहीं हो सकती। जब हमारे शास्त्र यह कहते हैं कि—'**रसो वै सः**' तब तो उनका इंगित पूरी ज्ञान मीमांसा को रसमय बना देने की ओर होता है। शिक्षा का काम ही जीवन को रस से आप्लावित करना है। रस की अनुभूति कराना है। मगर उससे भी पहले रस की पहचान कराना है। रस क्या है? यह हम जान लें यही शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण सरोकार है, मगर दुर्भाग्य यह है कि हम जानते ही कहां हैं कि रस क्या है? त्यौहार तो आते ही हमें यह बताने के लिये हैं कि हम होलिका जैसी दुर्बुद्धि का हवन करें और जीवन में सिर्फ रस भरें, रंग भरें, हास्य भरें, हर्ष भरें और थोड़ा विनोद भरें।

यही वजह है कि हम फिर से शिक्षा में विनोद की खोज का एक नया अभियान शुरू कर रहे हैं। सभी पाठकों से निवेदन करते हैं कि कृपा करके

यथा शीघ्र हमें अपने दीर्घ अनुभव में से कक्षा की उन तमाम छवियों से अवगत करायें जहां चलते-चलते कुछ क्षण विनोद के आ जाते हैं। हास्य और हर्ष के आ जाते हैं। उन क्षणों की तलाश करें जो शिक्षा को थोड़ा हलका-फुलका बना जाते हैं मगर फिर भी शैक्षिक अनुभवों को गंभीर अर्थ दे जाते हैं। पाठकों की सूचना के लिये इस विश्वास को व्यक्त करना जरूरी समझता हूं कि विनोद कभी निरर्थक नहीं होता, बल्कि उसमें इतनी ताकत होती है कि वो हमारे जीवनानुभवों को सार्थक बना देता है।

तो मित्रों, होली की राम-राम के साथ यह निवेदन है कि अपने अनुभव की तिजोरी खोलिये और थोड़ा सा अनुभव बांट दीजिये। कुछ लिख भेजिये की आपके शैक्षिक अनुभवों में रंग कहां थे, रस कहां था, हंसी कहां थी, खुशी कहां थी ताकि हम लोग मिलकर एक नये आनन्ददायी शिक्षा-शास्त्र की रचना की शुरुआत कर सकें। आप सबके सहयोग से ही यह संभव होगा।

❑

मार्च, 2009

सुन्नो शन्नो

सुनो शन्नो,
मरी नहीं हो तुम
न मरोगी कभी भी।
मर कर भी मृत्यु को जीता है तुमने।

तुम्हारी किलक और पुलक
जो अनायास पसर जाया करती थी
तुम्हारी कक्षा में
वह अब सदा छायी रहेगी
उस पूरी शाला में
जहां तुम पढ़ने गयी थी
और जिसने पढ़ाई के नाम पर
तुम्हे मौत दी थी।
तुम कितनी सरल और विरल थी शन्नो
कि तुम्हारी मासूमियत के आगे
मृत्यु भी हार गयी है
और तुम
अब अमर हो गयी हो।

तुम कितनी उदार थी शन्नो
कि मरने से पहले

मन ही मन
उस हत्यारी मास्टरनी को भी
माफ कर गयी थी
जिसने तुम्हारा सिर
पढ़ने की मेज़ पर दे मारा था।
इतना ही काफी नहीं था
उस मास्टरनी के क्रोध और कुंठा को
शांत करने के लिये
और उसने तुमको
दो घंटे तक चिलचिलाती धूप में
खड़ा कर दिया था।
तुम कितनी धीर गंभीर
और सहनशील थी शन्नो
कि इस सज़ा को तुमने चुपचाप
सहन कर लिया था।
न तुम चीखी थी
न चिल्लाई थी
न रोई थी
न तिलमिलायी थी
चुपचाप तुमने इस देश की
पथराई और बेहया शिक्षा को
पी लिया था
और फिर अपनी अमरता को
जी लिया था।

यह भी कैसा सच है शन्नो
कि तुम्हारी मौत पर
इस देश के किसी भी सूबे का
कोई भी शिक्षा मंत्री
रोया नहीं था।
बापू की तस्वीरों की छाया में
अपनी कुर्सियों की जुगत भिड़ाते
किसी भी राजनेता ने
उपवास नहीं किया था।

सब खामोश थे
तुम्हारी मौत पर
मगर अपने चुनावी दंगल में
सब पूरी बेशर्मी के साथ
इस कदर व्यस्त थे,
मानो कि वे
आदमी नहीं
बुत्त थे।
मगर तुम्हारा भी
कोई जवाब नहीं शन्नो
तुम अब इन सबको
कभी कोसोगी भी नहीं
और अबोली बनी
इस देश की शिक्षा व्यवस्था
के अगले पतन की प्रतीक्षा करोगी।

मगर सुनो शन्नो
तुम्हारी चीख
अब पूरी कर्कशता के साथ
चीत्कार बनकर गूंजती रहेगी
तुम्हारी उस अध्यापिका के जीवन में,
जीवन भर।
और जो तुम नहीं कह सकी थी
वह सब
अब मैं कहूंगा शन्नो
सुनाऊंगा तुम्हारी शहादत की कहानी
इस देश की हर कक्षा और हर शाला को।
हम आम और हर खास को।
जिन्दा रहोगी तुम मुझमें
मेरे देश की हजारों-हजार बेटियों में
चिनगारी बनकर।

❑

अप्रेल, 2009

मातृ मुखेन शिक्षणम्

बात बहुत पुरानी है। कृष्ण सांदीपनी ऋषि के आश्रम में पढ़ते थे। विद्या पूरी हुई थी। दीक्षान्त का समय आया। आश्रम की प्रथा के अनुसार आचार्य दीक्षान्त के समय हर शिष्य को मुंह मांगा वरदान दिया करते थे। रस्म चल रही थी। कृष्ण की बारी आयी तो सांदीपनी और कृष्ण के बीच आंखों ही आंखों में एक मूक संवाद हुआ। सांदीपनी ने कहा—कृष्ण मैं जानता हूं कि तुम कौन हो? फिर भला मैं तुम्हें क्या वरदान दूं, मगर फिर भी प्रथा है तो मांगो। अपने मुंह से कुछ मांगो। कृष्ण हल्के से मुस्कराये बहुत संकोच के साथ एवं श्रद्धा भाव से बोले—**मातृ हस्तेन भोजनम्** अर्थात मैं जब तक जिन्दा रहूं मां के हाथ का भोजन करूं। गुरु ने आशिर्वाद दिया और कहा ऐसा ही होगा वत्स! सच में हुआ भी। कहते हैं कि कृष्ण जब तक जिन्दा रहे तब तक मां कायम रही और उसके हाथ का ही भोजन करते रहे।

यह बात हमने विनोबा जी के लेखन में कहीं पढ़ी मगर वहीं पर यह भी पढ़ा कि विनोबा ने इस वरदान में अपने लिये एक वरदान और जोड़ लिया। विनोबा ने मन ही मन प्रार्थना के भाव में अपने लिये भी और सबके लिये भी जो वरदान मांगा वह था—**मातृ हस्तेन भोजनम्, मातृ मुखेन शिक्षणम्।** विनोबा ने चाहा कि सभी लोग मां के हाथ का भोजन तो करें ही मगर शिक्षा भी मां के मुंह से ही प्राप्त करें। विनोबा स्वयं अपनी मां को, जो उन्हें विन्या कहकर पुकारती थी, अपना प्रथम गुरु मानते रहे। उनके लेखन में जगह जगह मां के मुंह से मिली शिक्षा का जिक्र आता है और वहीं पर पाठक इसकी भी अनुभूति करता है कि विनोबा अपनी मां के प्रति कितने आस्थावान थे! कैसी श्रद्धा रखते थे!!

आप सबने अनौपचारिका के पिछले अंक में जोधपुर की चिट्ठी में मदालसा नारायण का जिक्र पढ़ा होगा। ये मदालसा नारायण तो श्रीमन्नारायण की पत्नी थीं। बापू के साथ कंधे से कंधा मिलाकर देश की आजादी के लिये काम किया था। इनका जिक्र आते ही मुझे उस **मदालसा**

की याद आयी थी जिसने अपनी लोरियों के मार्फत अपने बेटों को एक के बाद एक शुद्ध, बुद्ध बना दिया था। पाठक यदि पढ़ने का कष्ट करें तो **मार्कण्डेय पुराण** में यह पूरा आख्यान विस्तार से पढ़ने को मिल जायेगा। कैसी मां थी मदालसा! उसकी हर लोरी में ऐसी ताकत थी कि वो बालकों को संसार का सच्चा भान कराती चलती थी। बालक बड़े होते थे और शुद्ध, बुद्ध मुक्त होकर तपस्या को चल देते थे। **मदालसा** की हर लोरी उन बेटों को सुलाती नहीं थी, बल्कि जाग्रत करती थी। वे लोरियां संस्कृत वाङ्मय की अमूल्य निधि तो हैं ही मगर आज भी अत्यन्त पठनीय है यह पूरा आख्यान और गेय है हर लोरी।

मदालसा आज एक पढ़ी लिखी और जाग्रत मां का प्रतीक बन गयी है। जब हम विनोबा द्वारा मांगे गये वरदान को याद करते हैं तो मन ही मन **मदालसा** जैसी माताओं की कल्पना सामने तैरने लगती है। क्या आज की माताएं इस तरह पढ़ी लिखी हैं? क्या आज की माताओं के मन में अपनी बालकों की शिक्षा के प्रति इतनी ऊंची कल्पनाएं शेष बच गयी हैं। एक और नया प्रश्न खड़ा हो जाता है कि माताओं द्वारा दी जाने वाली शिक्षा कल के संसार में बालकों को बांधने और कीचड़ में फेंक देने वाली शिक्षा है अथवा सदा सदा के लिये मुक्त कर देने वाली शिक्षा है। यह दीगर प्रश्न है कि **शिक्षा मुक्त करे अथवा बेड़ियों में जकड़ती रहे?**

एक और मां थी जिसका नाम **जाबाल** था। उसका एक बेटा था। नाम था **सत्यकाम**। वह विद्या पढ़ने गया तो ऋषियों ने उसकी जाति पूछी। उसके पिता का नाम पूछा। उसके पास एक ही उत्तर था कि जाति मेरी मनुष्य है और मेरी मां का नाम जाबाल है। पिता का नाम जानने का जब ऋषियों ने प्रबल आग्रह किया तो सत्यकाम ने कहा मेरी मां कई घरों में काम करती है। मैं नहीं जानता किस घर में किस व्यक्ति के साथ संसर्ग से मैं गर्भ में आया था। जब **सत्यकाम** ने यह कहा तो ऋषि चकित थे और सब उस मां के प्रति श्रद्धावनत हो गये थे जिस मां ने अपने बेटे को इतना सत्यनिष्ठ बनाया था कि वह कड़वे से कड़वा सत्य भी बेझिझक व्यक्त कर सकता था। ऋषियों ने कहा था कि तुम सत्य के प्रति ऐसी अटूट निष्ठा रखते हो तो अवश्य ही तुम विद्या के अधिकारी हो। **सत्यकाम** विद्यावान बना था, ऋषि हो गया था और **शुद्ध बुद्ध** होकर पार उतर गया था। कृपा थी तो केवल मां की। ऐसी मां की जो दो जून रोटी भी कष्ट से कमाती थी। मगर बेटे को सत्यनिष्ठ बनाने में जिसने कोई कंजूसी नहीं की थी। ऐसी माताएं अगर आज हो जायें तो बालक इस महाठगनी माया के चक्कर में नहीं पड़ेंगे बल्कि अत्यन्त करुणावान बनकर

के दीन दुनिया का भला करते हुए खुद भी पार उतरेंगे और औरों को भी पार उतार ले जायेंगे।

आज के बाजारू समाज में स्थिति इसके विपरीत है। न तो माताएं बालकों के प्रति अनन्त वत्सला हैं और न ही बालक माताओं के प्रति अनन्त आस्थावान। ऐसी स्थिति में फैशन के तौर पर मनाया जाने वाला मातृदिवस भला किसी भी समाज को कहां ले जायेगा?

❑

मई, 2009

सुवास की तलाश में!

मैं इन दिनों शिक्षा की दुनिया में, समाज में, गली-मौहल्ले में और अपने को घेरे हर आकाश में सुवास को तलाश रहा हूं। मुझे जीवन में सुवास की तलाश है। शिक्षा में सुवास की तलाश है। समाज में सुवास की तलाश है और मानवीय रिश्तों में सुवास की तलाश है। मन में एक चाहत जगी है कि हमारे तमाम रिश्तों की हर परत किसी सुगंध से भीगी हो। हमारी चाल-ढाल और हमारी बातचीत में भी आस-पास के लोगों को हमारे रिश्तों की प्रगाढ़ता की सुगंध आती रहे।

मैं जब सुवास की तलाश में निकला हूं तो चाहता हूं कि हर तरह की सुगंध की पहचान सभी लोगों को हो जाये। कहीं से कोई भीनी सी महक आती है तो तुरंत कोई कह सके यह मोगरे की महक है, अथवा चमेली की सुगंध है, अथवा चम्पे की खुशबू है, अथवा केवड़े की सुवास है। लोग सुगंध को पहचान लें और सुगंध के साथ अपने संबंध बना लें तो कितना अच्छा हो? अगर सुगंध से हमारा सच्चा रिश्ता जुड़ जाये तो कहीं भी दुर्गंध को कोई स्थान ही नहीं होगा। इसका अर्थ यह है कि कहीं कोई गंदगी नहीं होगी, कहीं कोई सड़ांध नहीं होगी। सब कुछ निर्मल होगा, स्वच्छ होगा और सुवासित होगा।

मैं सिर्फ हैरान हूं कि सैकड़ों वर्षों की शिक्षा सच्ची सुगंध से हमारे समाज का रिश्ता क्यों नहीं जोड़ सकी। मेरी हैरानी यह भी है कि जीवन में सुगंध के महत्त्व को ठीक से हमारे नये समाज ने समझा और रचाया, बसाया क्यों नहीं? यह बिल्कुल अलग बात है कि बाजार में नकली अथवा सिंथेटिक सुवास की कई वस्तुएं बिकने को मौजूद हैं, मगर किसी भी पढ़े लिखे समझदार व्यक्ति को रोक कर पूछो कि तुम केवड़े की खुशबू को पहचान सकते हो क्या? चम्पे की सुगंध को जानते हो क्या? सम्भवतः वह ठगा सा रह जायेगा और कोई उत्तर नहीं दे पायेगा। यह उस आदमी का दोष नहीं है। दोष हमारा है कि हम सुवास के लिए एक सच्ची चाहत पैदा नहीं कर सके हैं

और अपनी किसी भी शिक्षा प्रक्रिया में **सुवास की शिक्षा** को कोई स्थान नहीं दे सके हैं।

आज किसी भी बड़े से बड़े स्कूल में चले जाइये, लाखों रुपया फीस जहां ली जाती है वहां किसी क्यारी में मोगरा नहीं महकता, बच्चों को पुष्पों की बगिया में ले जाकर खड़ा नहीं किया जाता कि वे सुवास से अपना सीधा संबंध जोड़ सकें। विडम्बना यह है कि कक्षा में फूल भी यदि दिखाये जाते हैं तो वे या तो कागज के होते हैं या प्लास्टिक के होते हैं।

किसी कक्षा का नाम चम्पा, चमेली, जुही अथवा रातरानी रखा जाता हो ऐसा तो आज की शहरी सभ्यता में कोई सोच ही नहीं सकता। हां, गिजुभाई द्वारा स्थापित **भावनगर** के **दक्षिणामूर्ति बाल मंदिर** में जरूर कक्षाओं के ऐसे ही नाम दिये गये हैं। वहां एक कक्षा का नाम **नानीबकुल** है। क्या आप जानते हैं कि बकुल किसे कहते हैं? और फिर **नानीबकुल** का अर्थ क्या होता है। गिजुभाई की स्कूल में **कच्ची कक्षा** का नाम **नानीबकुल** होता था। **बकुल, मौल श्री** के पेड़ को कहते हैं। पेड़ जितना बड़ा होता है फूल उतना ही छोटा होता है। विराट वृक्ष पर खिलते नन्हें-नन्हें फूल गिजुभाई की प्रेरणा का विषय बने थे और उन्होंने कक्षा का नाम रख दिया था **नानीबकुल**। इन दिनों अर्थात जून के आखिरी सप्ताह और जुलाई एवं अगस्त के महीने में बकुल फूल रहा है। नन्हें-नन्हें फूल झर रहे हैं। अपनी सम्पूर्ण विनम्रता के साथ। वे बहुत मादक और भीनी-भीनी महक हवा में घुला रहे हैं। जैसे-जैसे वर्षा की फुहार उन झरे हुए फूलों पर पड़ती है उनकी महक और भी दूर तक फैलती है। मैं ठीक से समझ जाता हूं कि **भावनगर** के स्कूल की कक्षा का नाम **नानीबकुल गिजुभाई** ने क्यों रखा?

बकुल का एक बड़ा पेड़ मेरे घर के ठीक सामने लगा है। लगभग 12 वर्ष पहले इसे रोपा गया था। और आज ये फूल रहा है। इसकी सुवास फैल रही है। इसकी महक मेरे मन को मोह रही है। ऐसा ही मौलश्री का वृक्ष मैंने लखनऊ के साक्षरता निकेतन के प्रांगण में लगा हुआ देखा था। देखा नहीं था मैं उस वृक्ष के साथ में रहा था। उसके फूलों की महक को मैंने जीया था। पता चला था कि भारत में साक्षरता का दीया जलाने आयी **मां वैल्दी फिशर** इस वृक्ष को लगा गयी थी। जिसने यह वृक्ष लगाया था वह जानती थी कि **मौलश्री** की महक की महत्ता क्या है? विराट वृक्ष पर लगे छोटे-छोटे फूल जिनमें कोई वजन नहीं होता, मगर फिर भी उनकी महक के वजन को कोई तोल नहीं सकता। मैंने तब भी सीखा था और समझा था कि समाज और

सुवास का बड़ा दूर तक का और गहरा रिश्ता है। समाज यदि सुवास के बिना जीता है तो कहीं किसी बुनियादी कमी की पीड़ा को झेलते हुए जीता है। वहां कुछ अधूरा होता है और अधूरा ही रहता है।

मैं महसूस कर रहा हूं कि सुगंध हमारी संवेदनाओं को जगाती है, हमारे स्नायुतंत्र को एक नयी ऊर्जा देती है। उनको जाग्रत करती है। और इतना जाग्रत करती है कि हमारा पोर-पोर उस सुवास को पाने के लिये आतुर रहता है, मगर इससे हमारी संवेदनाओं का जो विकास होता है उस विकास के कारण हम जन-जन की पीड़ा को पहचान सकते हैं। हर पड़ौसी की पीर का अहसास कर सकते हैं। और ऐसे घनीभूत अहसास के बाद हम अपने पड़ौसी की मदद को दौड़ पड़ते हैं। मैं जानता हूं और मानता हूं कि सुवास हमारी संवेदनाओं को इतना जगाती है कि हम **सच्चे वैष्णव जन** बनने की ओर प्रवृत्त होते हैं और फिर बिना किसी प्रयास के **नरसी** के साथ रहते हैं।

तब हमारा पूरा समाज सिर्फ एक ही संदेश देता है—**'वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीड़ पराई जाणे रे'**। ❑

जुलाई, 2009

जीवन जहां मृत्यु को जीतने का मार्ग है

शंकराचार्य ने जब कहा—'जगत मिथ्या' है तभी से लोग इसी पहेली को सुलझाने में लगे रहे हैं कि यह जगत सत्य है अथवा मिथ्या। ब्रह्म को सत्य मानने और जीव को उससे अलग मानने का झगड़ा भी सूरदास की भाषा में सदा चलता रहा है। पाठकों को याद होगा कि सूर के एक भजन की पंक्ति है—**'एक जीव इक ब्रह्म कहावत सूर श्याम झगरौ....'** इस झगड़े में उलझी दुनिया कई बार जीवन को दोयम दर्जे का सत्य मानने की गलती करती रही है। कभी मनुष्य देह को आवागमन का साधन माना जाता रहा है अथवा कभी इसे रागद्वेष और मोहमाया की खान माना जाता रहा। मनुष्य जीवन को और भी कई नामों से पुकारा गया है। यहां तक कि इस शरीर को तो कई बार मलमूत्र बनाने की मशीन तक घोषित कर दिया गया है। ऐसी स्थिति में जीवन की तरफ और मनुष्य होने की सच्चाई को हम गौरव और गरिमा की नजर से देखना भूल गये। यह अलग बात है कि हमारे शास्त्र इसी शरीर को सारे धर्मों को साधने का मार्ग बताते गये हैं मगर फिर भी सारे संसार को मृत्यु लोक घोषित करने की गलती भी हम निरन्तर करते रहे हैं।

शंकर ने **दैहिक और भौतिक सच्चाई** को **माया** की संज्ञा दी थी। उनके यहां **माया** का दूसरा नाम **अविद्या** था। पंडितों ने अविद्या को बहुत बार **विद्या** के विरुद्ध प्रतिष्ठित किया और विद्या के विलोम शब्द के रूप में इसके अर्थ समझाते रहे। साधारण लोग ऐसे अर्थों को स्वीकारते भी रहे और किसी ऐसी विद्या की उपासना का मार्ग खोजते रहे जिसकी मदद से इस भवसागर को पार करना संभव हो जाये। ऐसी स्थिति में हमारे सामने दो शब्द उपस्थित हुए—एक शब्द **विद्या** था और दूसरा शब्द **अविद्या**। इन दोनों शब्दों का सार्थक उपयोग पहली बार **ईशावास्य उपनिषद्** में देखने को मिलता है। हम यह भी कह सकते हैं कि **ईशावास्य** ने दोनों शब्दों को हमारे सामने दो महत्त्वपूर्ण सच्चाइयों के रूप में प्रकट किया। **अविद्या** एक सच्चाई और **विद्या**

दूसरी सच्चाई। उल्लेखनीय बात यह है कि यहां पर **अविद्या**, **विद्या** का विलोम शब्द नहीं था। हमारे जीवन का नाम अथवा जागतिक सच्चाई का नाम अविद्या था। यह अविद्या, विद्या विरोधी नहीं थी और विद्या, अविद्या विरोधी नहीं थी। दोनों की स्वतंत्र महत्ता थी। इस पहेली को सुलझाने का प्रयास करते हुए भाई विष्णुकांत शास्त्री एक जगह पर हमें बताते हैं कि— भारतीय और अभारतीय दो शब्द हैं मगर अभारतीय यहां भारतीय का विरोधी शब्द नहीं है। जो भारत में रहते हैं वे भारतीय हैं और जो भारत से बाहर रहते हैं वे अभारतीय हैं। दोनों का कोई झगड़ा नहीं है। दोनों अपनी-अपनी जगह सच हैं, स्थित हैं, उपस्थित हैं।

ठीक इसी तर्ज में **विद्या** अपनी जगह उपस्थित है और **अविद्या** अपनी जगह उपस्थित है। हमारे जीवन की दैहिक और जागतिक सच्चाई को हम **अविद्या** से समझते हैं और जीवन से परे की पारलौकिक सच्चाई को हम विद्या से समझते हैं। इन दोनों शब्दों के समानान्तर हमारे शास्त्रों ने विद्या के लिए दो और शब्दों का प्रयोग किया है और वे हैं—**अपराविद्या** और **पराविद्या**। **अपराविद्या** इस जगत को जानने का साधन है और **पराविद्या** जगत से दूर पारलौकिक सच को जानने का साधन है। अपनी इस कोशिश में हमारे शास्त्र जीवन और जगत को निरन्तर प्रतिष्ठित करते रहे। वे ऐसा करने के साथ-साथ मनुष्य जीवन की भी निरन्तर प्रतिष्ठा करते गये। महाभारतकार मनुष्य से श्रेष्ठ और किसी भी सच्चाई को स्वीकारने को तैयार नहीं है। मनुष्य वहां पर सदा-सर्वदा एक उदात्त इकाई है। वहां औदार्य है। उदार चरितानाम जीवन का नाम ही मनुष्य है। वहां प्रेम है, सहजीवन है, सौन्दर्य है, सत्य है।

इसी मनुष्य जीवन के मार्फत हम मृत्यु को जीत सकते हैं। ईशावास्य उपनिषद् घोषणा करता है: '**अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते**'। ईशावास्य यहां हमको जाग्रत करके कहता है कि हम मनुष्य जीवन को मृत्यु को जीतने का साधन समझें। इसी जीवन में इसी जगत में हमारे लिये यह सम्भव है कि हम जीवन-मरण के दुष्चक्र से मुक्ति पा सकें और ऐसी मुक्ति में हमारा साथ देती है यह **अविद्या** जो इस जीवन को सच मानने में हमारी मदद करती है। जीवन मुक्ति का मार्ग है और मृत्यु को जीतने का साधन है यह हमारे शास्त्र हमें बताते हैं। ऐसी स्थिति में जीवन को अथवा जगत को दोयम दर्जे की सच्चाई मानने की गलती हम न करें तो अच्छा होगा।

फिर भी मृत्यु क्या है यह सवाल हमेशा ही 'यक्ष प्रश्न' बना रहा है। जीवन में जितनी भी घटनाएं होती हैं वे नहीं भी हो सकती थीं। वे सभी

संभावनाएं है। परन्तु मृत्यु अवश्यंभावी है। इसे जान लेना ही जीवन को जान लेना है। जीवन को द्दष्टा की तरह देखना और जानना ही मुक्ति का मार्ग बताया गया है। मुक्ति का यह ज्ञान जीवन से ही संभव है। और जीवन जगत में ही संभव है। इसलिए जगत मिथ्या कैसे हो सकता है?

❑

अगस्त, 2009

कैसी हो किताबें ?

एक बार फिर यह विवाद उठा है कि राजस्थान की स्कूलों में चलने वाली किताबें नयी सरकार को रास नहीं आ रही हैं। फिर यह घोषणा की गयी है कि ये किताबें बदलेंगी। ऐसा पहले भी हुआ था। पहले भी जब अशोक गहलोत की सरकार आयी थी तो उन्हें पुरानी किताबें रास नहीं आयीं थीं और एक समिति किताबों को बदलने के लिए गठित कर दी गयी थी। अब फिर ऐसा ही होगा।

अब अगर कोई पूछे कि ऐसा क्यों हो रहा है तो सरकारी उत्तर होगा कि बच्चों की किताबों को भाजपाई रंगों से रंग दिया गया है। पहले भी ऐसा हुआ था और अब फिर ऐसा हुआ है। किताबें बदलें, उनमें ताजगी आये और एक उदार शिक्षा दृष्टि से उनको संवारा जाय, यह एक स्वागत योग्य निर्णय है।

इस निर्णय का तो स्वागत होना ही चाहिए मगर ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि किताबों को सरकारी कट्टरता से कैसे दूर रखा जाये? क्या किया जाय कि किताबें सिर्फ किताबें रहें? सीखने का रोचक स्रोत बनी रहें ! बालकों के लिए मनभावन बनी रहें और उनमें से पाठ्यक्रमी बोझिलता को सदा के लिए बाहर निकाल फेंका जाये। दुर्भाग्य की बात है कि किताबों को लेकर सरकारी अवधारणा यह है कि किताबें सरकारों की राजनीतिक मान्यताओं को आरोपित करने का एक बड़ा साधन हैं—अवसर है। मगर यह सच नहीं है और यह एक शिक्षा विरोधी एवं बाल विरोधी मान्यता है। बालकों के लिए अभी हाल ही में संसद द्वारा पारित शिक्षा को सीखने का मौलिक अधिकार बनाने के कानून के भी यह खिलाफ है। ऐसी मान्यता किताबों को उनके बाल-वत्सल स्वरूप से दूर ले जाती है और शिक्षा से भी दूर ले जा कर पटकती है।

ऐसी स्थिति में यह बुनियादी प्रश्न सामने खड़ा है कि किताबें कैसी हों, उनमें क्या हो? किताबें टॉफी जैसी खट्टी-मीठी हो सकती हैं। किताबें लड्डू

जैसी ललचाने वाली हो सकती हैं। किताबें आइसक्रीम जैसी मीठी हो सकती हैं। कभी वे चिड़ियों सी चहकने वाली हो सकती हैं तो कभी वे तितलियों से रंग-बिखेरती डाल-डाल तक उड़ने वाली हो सकती हैं। हल्की व फुल्की। कई बार किताबें खिलौनों सी मनोरंजक हो सकती हैं तो कभी कभार किताबें उड़न तश्तरी को अपने साथ ले उड़ने वाली हो सकती हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि किताबें बच्चों की आंखें हो सकती हैं। इस दुनिया को अपनी-अपनी नजर से देखने में बच्चों की मदद कर सकती हैं। किताबें सवाल करना सिखाने वाली हो सकती हैं तो हर बच्चे को सदा उत्साहित करने वाली व सबको अपना-अपना आनंद देने वाली हो सकती हैं। बालकों की दोस्त हो सकती हैं तो कभी उनकी सखियां हो सकती हैं। अब हर सरकार के सामने सबसे बड़ा सवाल यह है कि किताबें कैसे ऐसी हो सकती हैं? हर सरकार के सामने हर राज्य में यह प्रश्न खड़ा होना चाहिए कि किताबें बालकों के दिलो दिमाग का बोझ बनने से कैसे बच सकती हैं? कैसे हमारी किताबें सदा बाल वत्सल और शिक्षा की उत्प्रेरक हो सकती हैं?

यदि इन प्रश्नों का उत्तर हम तलाशना चाहते हैं तो हमें किताबों के प्रति सर्वथा उदार बालकोन्मुखी दृष्टिकोण अपनाना होगा। अपनी खुद की कट्टरता को ताक पर रखकर सर्वथा शुद्ध शैक्षिक दृष्टिकोण को अपनाना होगा। सच्ची शिक्षा क्या है? यह समझना होगा। यह तय करना होगा कि जानकारी का अंबार शिक्षा है अथवा जगत को जानने का आनंद शिक्षा है? हमें फिर **गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर** को याद करना होगा और उनकी सिर्फ एक प्रार्थना पर पूरे मनोयोग से अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा—**मन निर्भय हो जहां, जहां मस्तक ऊंचा हो स्वाभिमान से**। **गांधी** के एक प्रिय भजन पर अपनी नजर टिकानी होगी—'**वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीर पराई जाणे रे**।' **सूर** और **तुलसी** को याद करते हुए बाल सुलभ निश्छलता को आत्मसात करना होगा। **बाल-केलि** तथा **बाल-क्रीड़ा** से कुछ सीखना होगा। मगर सबसे बड़ा सवाल यह है कि क्या हमारे राजनेता ऐसा कर सकते हैं? यदि कोई भी राजनेता ऐसा करने की चाहत जगा सकता है तो किताबों को बदलने का, संवारने का व परिमार्जित करने का हर प्रस्ताव सदा स्वीकार्य होना चाहिए। आओ, हम ऐसा होने की प्रार्थना करें। ❑

सितम्बर, 2009

कैसी होगी साक्षर औरत ?

साक्षर-भारत के नये अभियान का ऐलान हो गया है। इस अभियान के अन्तर्गत राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का पहला जोर महिलाओं को साक्षर करने पर होगा। ऐसा संकल्प किया जा रहा है कि आने वाले समय में इस देश में एक भी महिला निरक्षर न रहे। सोचा यह भी जा रहा है कि महिलाएं जब साक्षर हो जायेंगी तो बच्चे भी सब स्वयं पढ़ेंगे और स्कूलों से बाहर रहने वाले बच्चों अथवा पढ़ाई में पीछे छूट जाने वाले बच्चों की संख्या नगण्य होगी। बहुत जोर-शोर के साथ यह घोषणा की गयी है कि देश की सारी महिलाओं को शीघ्र से शीघ्र साक्षर करने के हर संभव प्रयत्न किये जायेंगे और इसमें कोई कोर कसर नहीं रखी जायेगी।

इस संदर्भ में हमारे लिये यह आवश्यक हो गया है कि हम पूर्ण रूप से साक्षर महिला की एक छवि हमारे मन में बना लें। अपने आप से, अपने परिवेश से और इस कार्यक्रम को संचालित करने वाले तमाम लोगों से यह पूछें कि साक्षर महिला अन्ततः कैसी होगी? उसकी शक्ल सूरत कैसी होगी? उसका मन कैसा होगा? उसका काम कैसा होगा? उसकी उमंग कैसी होगी? उसका उत्साह कैसा होगा? राज और समाज में उसकी भागीदारी कैसी और कितनी होगी? परिवार में उसकी आवाज कितनी बुलन्द होगी और कितनी सुनी जायेगी? बालकों के साथ उसके रिश्ते कैसे होंगे? बालकों की शिक्षा के बारे में उसके सपने कैसे होंगे? समाज के रीति-रिवाजों की जड़ता को तोड़ने के उसके इरादे कैसे होंगे? अंध-विश्वासों में जकड़े रहने से बचने के उसके उपाय कैसे होंगे? बेटियों को दहेज देने और बेटों का दहेज लेने के बारे में उसके निर्णय क्या होंगे? घर में बेटी-बेटों में भेद न करने और बेटियों को समान लाड़-प्यार के साथ बड़ा करने के उसके संकल्प कैसे होंगे? ऐसे और भी हजारों सवाल हैं जो कल की साक्षर और जाग्रत महिलाओं के बारे में पूछे जा सकते हैं।

जब हम साक्षर और जाग्रत की बात कर रहे हैं तो हमारा आशय साफ-

साफ यही है कि जो महिला कल साक्षर हो जायेगी वह कल पूरी तरह से जाग्रत भी हो जायेगी। वह केवल अक्षर और अंक नहीं सीखेगी, वह केवल हस्ताक्षर करना नहीं सीखेगी बल्कि वह इससे आगे सोचेगी और अपनी तकदीर बनाने के बारे में अपना फैसला अपने हाथ में रखेगी। अपनी ही नहीं अपने बालकों की तकदीर भी वह स्वयं बनायेगी। तकदीर कभी किसी जन्म-पत्री में नहीं लिखी होती है। आदमी खुद अपनी तकदीर बनाता है, औरत खुद अपनी तकदीर बनाती है बशर्ते आदमी भी आजाद हो और औरत भी आजाद हो।

हमारा सवाल यह है कि कल जो औरत साक्षर हो जायेगी वह कितनी आजाद होगी? उसे अपने फैसले खुद करने की आजादी हमारे परिवार कितनी देंगे, हमारा समाज कितनी आजादी देगा उसे और हमारा राज अपने निर्णय लेने में औरतों की भागीदारी को कितना आमंत्रित करेगा। आज जो राज औरतों को साक्षर करने का सपना देख रहा है वह क्या इसकी भी कोई कल्पना कर रहा है कि कल इस देश के विकास, इस देश की शिक्षा और इस देश के शासन में औरतों की एक निश्चित भागीदारी को वह स्वयं सुनिश्चित करेगा। क्या ऐसा सोचा जा रहा है? साक्षरता के अर्थ ही यह हैं कि हम जाग्रत हो जावें, सक्रिय हो जावें और अपने जीवन संबंधी तमाम निर्णयों को स्वयं लेने में स्वतंत्र हो जायें। **साक्षरता सीखना सिखाती है। साक्षरता सोचना सिखाती है। साक्षरता सवाल करना सिखाती है। साक्षरता हर तरह की जड़ता को तोड़ना सिखाती है। साक्षरता व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने का दूसरा नाम है। केवल पोथी नहीं; इस जीवन और जगत को पढ़ लेने का पहला नाम साक्षरता है।**

ऐसी स्थिति में सोचना हमें यह है कि जो व्यवस्थाएं आदमी को एवं औरतों को गुलाम बनाये रखना चाहती हैं वे व्यवस्थाएं औरतों को साक्षर बनाने की इस मुहिम में कितनी और कैसी भागीदारी निभायेंगी ? समाज कल औरतों को गुलाम बनाने की तमाम व्यवस्थाओं को तोड़ डालने के कौन से प्रयास करेगा? यदि ऐसा नहीं होता है तो साक्षरता अधूरी होगी।

साक्षर औरत कल किसी के पांव की जूती बन कर नहीं रहेगी। साक्षर औरत कल अपने पांव में किसी भी तरह के बंधन या बेड़ियां स्वीकार नहीं करेगी। साक्षर औरत कल किसी शरीयत के कानून-कायदों में नहीं बंधना चाहेगी। साक्षर औरत कल किसी ओझाओं और उलेमाओं के कर्म-कांडों का शिकार होना नहीं चाहेगी। साक्षर औरत सिर्फ सीखना चाहेगी और समाज को

निरन्तर सिखाते रहना चाहेगी। सच्चे सिख-धर्म की संवाहक होगी साक्षर औरत। वह **गुरुग्रंथ साहब** और **जपुजी साहब** की सीख के मुताबिक सत्य की स्थापना करने वाली होगी और **नानक साहब** की बात मानती हुई पूरे समाज को **'हुकमि–रजाई पर चलणा'** सिखायेगी। यह बात हम **गुरु नानक जयंती** के अवसर पर याद कर रहे हैं। अपनी अरदास को इसमें जोड़ते हुए। यह हुक्म अल्ला मियां का हुक्म होता है, कुदरत का नियम होता है और इस पर चलने वाले लोग कुदरत के साथ खिलवाड़ नहीं करते हैं। साक्षर औरत स्वयं शिक्षा का एक चलता फिरता संस्थान होगी। साक्षर औरत ऐसी किसी नदी की एक धारा होगी जो पूरे समाज को निर्मल करती हुई निरन्तर बहती रहे और बहते रहने की अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखे। क्या हम इसके लिये तैयार हैं? ❑

नवम्बर, 2009

बबल भाई के बहाने...!

वर्ष 2009 पूरा हो गया है। यह वर्ष **बापू** की लिखी किताब **'हिन्द स्वराज'** का शताब्दी वर्ष था। एक छोटी-सी किताब सौ बरस तक किस तरह से प्रासंगिक बनी रही और किस तरह से नयी सभ्यता और नयी पीढ़ी की नजरों से दूर रही इस बात पर गौर करना बहुत जरूरी है। जरूरी तो यह पूछना है कि दिल्ली में राजघाट पर रस्मी पुष्पवर्षा करते हुए भी हम कैसे और किस कदर **बापू** को भुला सकते हैं? आज यदि देश के 100 शिक्षकों से **हिन्द स्वराज** के बारे में बात की जाये तो 90 लोग यह कहेंगे कि हमने तो इस पुस्तक का नाम भी नहीं सुना है। ऐसी स्थिति में हमें इस पर बात करनी थी। हम पूरे वर्ष आपस में बातें करते भी रहे हैं और **हिन्द स्वराज** पर बहुत कुछ छापते भी रहे, मगर किसी ऐसे सार्थक संवाद की शुरुआत अभी तक नहीं हो सकी कि **हिन्द स्वराज** में लिखी तमाम बातें हमारी जीवन शैली का अंग बन सकें। यदि ऐसा हो जाता है तो हमारा विश्वास है कि हर आदमी जीवन में पहली बार अपने स्वराज को अपने साथ पा सकेगा। लेकिन होगा ऐसा तब ही जब हम इस पुस्तक को पढ़ेंगे, इस पर बात करेंगे और इस अंक में हमें बात करने के रूप में **बबल भाई** की जन्म शताब्दी का एक ओर बहाना मिल गया।

हिन्द स्वराज का शताब्दी वर्ष समाप्त हो रहा है और **बबल भाई** जैसे तपस्वी शिक्षा-साधक का शताब्दी वर्ष शुरू हो रहा है। हम जानते हैं कि देश के हजारों शिक्षाविद् **बबल भाई** को जानते ही नहीं हैं। यही वजह है कि **बबल भाई** के त्याग और तपस्या से अनुप्राणित होने की पहल देश की किसी पाठ्यपुस्तक ने आज तक नहीं की है। पाठ्यपुस्तकें देश की त्याग और तपस्या से बालकों सींच देने के लिये होती हैं, उन्हें ऐसा होना ही चाहिये मगर आज की पाठ्यपुस्तकें अपनी सम्पूर्ण फूहड़ता के साथ जंगलों को काटते हुए, कागजों को काला करते हुए लाखों की तादाद में छपती हैं और वे सर्वथा अपठनीय होती हैं। कौन पूछे कि ऐसा क्यों होता है। मगर **बबल भाई** को याद करते हुए उनकी तपस्या से प्रेरित होते हुए हम फिलवक्त सिर्फ इतना ही पूछ लेते हैं कि स्कूली-शिक्षा में देश के तपोपूतों की तपस्या को कितना स्थान मिलना चाहिये?

बबल भाई और **बापू** को याद करते हुए यह भी पूछा जा सकता है कि **हिन्द स्वराज** आज तक किसी भी स्तर पर विद्यालयों अथवा विश्वविद्यालयों में अनिवार्य पाठ्यपुस्तक के रूप में क्यों नहीं पढ़ाई गयी? पूछा तो यह भी जा सकता है कि हमारा शिक्षा शासन और उसके साथ ही हमारे तमाम राजनेता इस पुस्तक के रोमांचित करने वाले संदेश के प्रति कैसे और क्यों विमुख रहे? कारण हम जानते भी हैं और वे कारण हमारे सामने भी खड़े हैं। ज़ाहिर है कि आदमी की स्वतंत्रता, स्वराज, स्वदेशी, स्वावलंबन, स्वाध्याय और सबसे ऊपर स्वाभिमान अब किसी भी देश के शासन की प्राथमिकता नहीं रही। **यह सच है कि सभ्यताएं अपनी प्राथमिकताएं बदलती हैं, मगर सबसे घातक सच तो यह है कि सभ्यताएं आत्मघाती रास्तों का वरण कर लेती हैं। दुख तब होता है जब शिक्षा के बावजूद हम स्वयं आत्महंता हो जाते हैं। क्यों हो जाते हैं?** इसका उत्तर हमें **बबल भाई** और **बापू** के जीवन संघर्ष में मिलता है।

अकेले नहीं थे **बापू** और न ही अकेले थे **बबल भाई**। उनके ही जैसे दूसरे सैकड़ों लोग उनके साथ थे। त्याग और तपस्या का मार्ग तब सर्वथा वरेण्य था। एक तरफ **रविशंकर महाराज** थे तो दूसरी तरफ **विनोबा**। एक तरफ **काका कालेलकर** थे तो दूसरी तरफ **मीरां बहन**। सभी इतने निष्ठावान और इतने तपस्वी कि एक-दूसरे को एक-दूसरे से ईर्ष्या तक होती थी। यह ईर्ष्या त्याग के लिये प्रेरित करती थी, तपस्या की ओर ले जाती थी, परमार्थ से जोड़ती थी और स्वार्थ से सर्वथा दूर ले जाती थी। खुद **बापू** ने कहा था कि '**अगर परमात्मा मुझको देह बदलने की छूट दे तो मैं रविशंकर महाराज की देह धारण करना चाहूंगा**'। अजर अमर शरीर वाले ये लोक-सेवक, ये लोक-शिक्षक, और ये मनीषी सप्तऋषियों में शामिल किये जाने योग्य तो थे मगर थे सभी बापू के शिष्य।

बबल भाई भी **बापू** के ही शिष्य थे। उनके रास्ते पर चलने वाले थे **काका कालेलकर** से वे प्रभावित हुए थे और **विनोबा** के भू-दान आंदोल से वे प्रेरित हुए थे। जहां लोग गज भर जमीन के लिए उम्र भर की दुश्मनी ठा लिया करते थे उसी देश में लाखों एकड़ जमीन विनोबा के चरणों में बिछा द गयी थी। सब उसका मालिकाना हक भू-दान को सौंप चुके थे। यह ए क्रांति थी जो **बबल भाई** के जीवन की मशाल बनी और उनको नयी दृष्टि गयी।

दिसम्बर, 200